

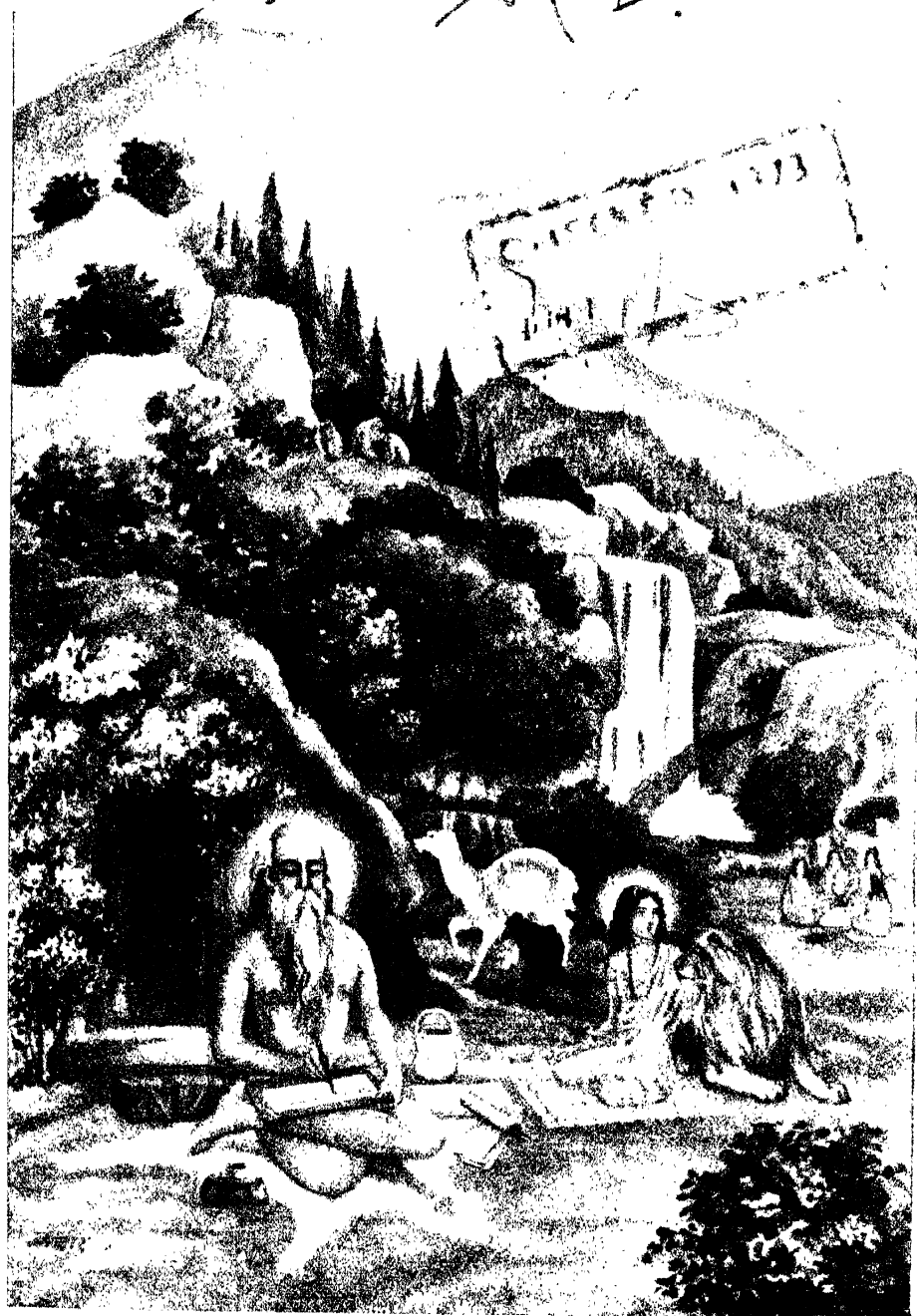
अच्युत

1904

20

IV.

CHITRA 1213



[नोट—दूकानदारों तथा स्थायी ग्राहकोंके लिए २५% कमीशन काटकर
४।।) वार्षिक]

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक --

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अन्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,
ललिताघाट काशी ।

मुद्रक —माधव रामचन्द्र काले, श्रीलक्ष्मणारायण प्रेस, काशी ।



अच्युत

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
तृतीय अध्यायका आरम्भ	१६२१	— १
तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरण [पृ० १६२१—१६४६]		
तृतीय अध्यायके प्रथमपादके प्रथम अधिकरणका सार ...	१६२१	— ८
प्रथम सूत्र—तदन्तरप्रतिपत्तौ—... ..	१६२२	— १
द्वितीय अध्यायके वृत्तके अनुवादपूर्वक तृतीय अध्यायके विषयका संक्षेपतः कथन	१६२२	— १५
देहके वीजभूत भूतसूक्ष्मोंसे जीव अपरिवेष्टित जाता है [पूर्वपक्ष]	१६२४	— ७
भूतसूक्ष्मोंसे परिवेष्टित ही जीव जाता है [सिद्धान्त] ...	१६२६	— २
द्वितीय सूत्र—व्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्	१६२९	— १७
जल व्यात्मक है	१६३०	— २
तृतीय सूत्र—प्राणगतेश्च	१६३१	— २२
प्राणकी गति आश्रयके बिना नहीं होती है	१६३२	— ४
चतुर्थ सूत्र—अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति—... ..	१६३२	— २१
देहान्तरकी प्राप्तिमें प्राण जीवके साथ नहीं जाते हैं [पूर्वपक्ष]	१६३३	— २
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन [सिद्धान्त]	१६३३	— ५
पञ्चम सूत्र—प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न—... ..	१६३४	— १५
‘पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति’ इसका निर्धारण किस प्रकार ? [पूर्वपक्ष]	१६३५	— २
उक्त शङ्काका खण्डन	१६३६	— २
वैदिकप्रयोगसे श्रद्धाशब्द जलका वाचक है	१६३७	— ६
षष्ठ सूत्र—अश्रुतत्वादिति चेन्नोष्टादि—... ..	१६३८	— २०
जीव परिवेष्टित नहीं जाता है [अन्य पूर्वपक्ष]	१६३९	— २
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन	१६३९	— ५
७वाँ सूत्र—भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति... ..	१६४२	— २०
‘ते चन्द्रं प्राप्य अन्नं भवन्ति’ इस श्रुतिसे प्रतिपादित इष्टादि कारियोंमें जो अन्नत्व है वह भाक्त है	१६४३	— २
‘अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति’ इसकी अन्य व्याख्या ...	१६४५	— २

कृतात्ययाधिकरण [पृ० १६४७-१६६९]

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
द्वितीय अधिकरणका सार	१६४७	— ६
अष्टम सूत्र—कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्याम्— ...	१६४७	— १२
इष्टादिकारियोंका चन्द्रमण्डलसे प्रत्यवरोह दिखलाकर निरनुशय आते हैं या सानुशय आते हैं इस प्रकार संशयका कथन ...	१६४८	— २
निरनुशय चन्द्रमण्डलसे आते हैं [पूर्वपक्ष]	१६४९	— ३
सानुशय आते हैं, इस सिद्धान्तका कथन	१६५१	— २
इष्टादिकारी सानुशय आते हैं, इसमें श्रुति और स्मृतियोंका प्रमाणतया कथन	१६५१	— ७
अनुशयके अर्थके प्रदर्शनमें मतमतान्तर	१६५३	— २
मरण अनारब्ध सब कर्मका अभिव्यञ्जक है, इस मतका खण्डन	१६५७	— २
धर्म और अधर्मके स्वरूपके ज्ञानमें शास्त्र ही प्रमाण है ...	१६६०	— ४
अवरोह करनेवाले जिस मार्गसे जाते हैं उस मार्गसे अथवा उससे विपरीत मार्गसे आते हैं	१६६२	— २
९वाँ सूत्र—चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ...	१६६३	— १५
चरणसे योन्यापत्ति है अनुशयसे नहीं [पूर्वपक्ष]	१६६४	— ३
चरणश्रुतिके उपलक्षण होनेसे दोष नहीं है	१६६५	— २
१०वाँ सूत्र—आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात्	१६६५	— १६
शीलार्थक चरणसे भी शुभाशुभयोनि प्राप्त होगी	१६६६	— ३
उक्त मतका प्रतिषेध	१६६६	— ६
कर्म सर्वार्थकारी है	१६६७	— २
११वाँ सूत्र—सुकृतदुष्कृते एव तु बादरिः	१६६८	— १
चरणशब्दसे सुकृत और दुष्कृत ही विवक्षित है, इस बादरि-मतका कथन	१६६८	— १२

अनिष्टादिकार्यधिकरण [पृ० १६७०-१६८५]

तृतीय अधिकरणका सार	१६७०	— ६
१२वाँ सूत्र—अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्	१६७०	— १३
इष्टादि करनेवाले ही चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा नियम नहीं है, प्रत्युत अनिष्टादिकारी भी जाते हैं—[पूर्वपक्ष] ...	१६७१	— ३

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
१३वाँ सूत्र—संयमने त्वनुभूयेतरेषाम्— ...	१६७२	— २२
सब चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा नियम नहीं है [सिद्धान्त] ...	१६७३	— २
१४वाँ सूत्र—स्मरन्ति च ...	१६७४	— २३
पाप कर्म करनेवाले यमाधीन यातना भोगते हैं ...	१६७५	— २
१५वाँ सूत्र—अपि च सप्त ...	१६७५	— ७
रौरवादि पापकर्मके फलकी उपभोगभूमि हैं ...	१६७५	— १५
१६वाँ सूत्र—तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ...	१६७६	— १
रौरव आदिमें यमप्रयुक्त ही चित्रगुप्त आदिमें अधिष्ठातृत्व है ...	१६७६	— १२
१७वाँ सूत्र—विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ...	१६७७	— १
‘एतयोः पथोः’ इसमें ‘एतयोः’ शब्दसे विद्या और कर्मका ग्रहण करना चाहिए ...	१६७८	— २
अनिष्टादिकारी चन्द्रविम्बमें चढ़कर पुनः क्षुद्रयोनिको प्राप्त करे, यह भी असंभव है ...	१६७९	— ३
१८वाँ सूत्र—न तृतीये तथोपलब्धेः ...	१६८०	— २३
तृतीय स्थानमें देहके लाभके लिए आहुतिका पञ्चसंख्यानियम नहीं है ...	१६८१	— २
१९वाँ सूत्र—स्मर्यतेऽपि च लोके ...	१६८२	— १५
द्रोण, सीता आदिका अयोनित्व सुना जाता है ...	१६८३	— २
२०वाँ सूत्र—दर्शनाच्च ...	१६८३	— २१
आहुति संख्याके अनादरमें पुनः दृष्टान्तका कथन ...	१६८४	— २
२१वाँ सूत्र—तृतीयशब्दावरोधः ...	१६८५	— १
उद्भिजशब्दसे स्वेदजका संग्रह होता है ...	१६८५	— १३

साभाव्यापत्यधिकरण [पृ० १५८६—१६८९]

चतुर्थ अधिकरणका सार ...	१६८६	— ६
२२वाँ सूत्र—साभाव्यार्पित्तिरुपपत्तेः ...	१६८६	— १२
इष्टादिकारी आकाशादि स्वरूप ही होते हैं [पूर्वपक्ष] ...	१६८८	— ३
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन ...	१६८८	— ७

नातिचिराधिकरण [पृ० १६९०—१६९२]

पञ्चम अधिकरणका सार ...	१६९०	— ६
२३वाँ सूत्र—नातिचिरेण विशेषात् ...	१६९०	— १२
अनुशयी अल्पकाल आकाशादिभावमें रहकर वृष्टिद्वारा इस भूमिमें आते हैं ...	१६९१	— ५

अन्याधिष्ठिताधिकरण [पृ० १६९३-१७०४]

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
षष्ठ अधिकरणका सार	१६९३	- ६
२४वाँ सूत्र अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलाषात्	१६९३	- १२
‘त इह ब्रीहियवा’ इत्यादि श्रुतिसे स्थावरजात्यापन्न अनुशयी होते हैं	१६९४	- ६
कथित पक्षका खण्डन	१६९६	- २
ब्रीह्यादिभावसे संश्लेषमात्र विवक्षित है, इसमें हेतुका कथन ...	१६९६	- ५
यदि ब्रीह्यादिमें मुख्य जन्म माना जाय, तो दोष होगा ...	१६९७	- २
२५वाँ सूत्र—अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्	१६९९	- १६
अग्निष्टोममें पशुहिंसा अधर्म नहीं है	१६९९	- २
२६वाँ सूत्र—रेतःसिग्योगोऽथ	१७०१	- २३
ब्रीह्यादिभावसे ब्रीहि अदिके साथ संश्लेषमात्र ही विवक्षित है ...	१७०२	- २
२७वाँ सूत्र—योनेः शरीरम्	१७०३	- १
ब्रीह्यादिभावसे ब्रीह्यादिसंश्लेष ही लेना इसमें अन्य रीतिका कथन	१७०३	- १२
तृतीय अध्यायके द्वितीय पादका आरम्भ	१७०५	- १

सन्ध्याधिकरण [पृ० १७०५—]

तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके प्रथम अधिकरणका सार ...	१७०५	- ८
प्रथम सूत्र—सन्ध्ये सृष्टिराह हि	१७०६	- १
स्वप्नकी सृष्टि सत्य है [पूर्वपक्ष]	१७०७	- ४
द्वितीय सूत्र—निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च	१७०९	- १
स्वप्न प्रपञ्चका निर्माता ईश्वर है [पूर्वपक्ष]	१७०९	- १४
तृतीय सूत्र—मायामात्रन्तु—	१७११	- १४
स्वप्न प्रपञ्च पारमार्थिक नहीं है	१७११	- २४
कात्स्न्य पदका विवेचन	१७१२	- ४
सुप्त पुरुषका गमन क्षणमात्रमें सैकड़ों माइल नहीं हो सकता है	१७१३	- ५

ॐ सद् नाचवतु । सद् नो भुनक्तु । सद् वीर्यं कर्वावदे ।
तेजास्ते नावधीनमस्तु मा विद्विषावदे ॥



तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकरूपमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष २ }

आषाढ पूर्णिमा १९९२

{ अङ्क ६

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

॥ श्रीः ॥

साधन-पञ्चकम्

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम् ।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसन्धीयता-
मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम् ॥१॥
सङ्गः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयतां
शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं कर्माशु संत्यज्यताम् ।
सद्विद्वानुपसर्प्यतां प्रतिदिनं तत्पादुके सेव्यतां
ब्रह्मेकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकर्ण्यताम् ॥२॥
वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरःपक्षः समाश्रीयतां
दुस्तर्कासुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम् ।
ब्रह्मेवास्मि विभाव्यतामहरहर्गर्वः परित्यज्यतां
देहेऽहंमतिरुज्यतां बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम् ॥३॥
क्षुद्रव्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां
स्वाद्वन्नं नतु याच्यतां विधिवशात्प्राप्तेन सन्तुष्यताम् ।
शीतोष्णादि विसह्यतां नतु वृथा वाक्यं समुच्चार्यता-
मौदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपानैष्टुर्यमुत्सृज्यताम् ॥४॥
एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयताम्
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यताम् जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम् ।
प्राक्कर्म प्रविलाप्यताम् चित्तिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यताम्
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥५॥
यः श्लोकपञ्चकमिदं पठते मनुष्यः
संचिन्तयत्यनुदिनं स्थिरतामुपेत्य ।
तस्याशु संसृतिदवानलतीव्रघोर-
तापः प्रशान्तिमुपयाति चित्तिप्रसादात् ॥६॥

—श्रीशङ्कराचार्याः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

[तृतीयसाधनाख्याध्याये प्रथमपादे गत्यागतिचिन्ता-वैराग्यनिरूपणविचारश्च]

[१ तदनन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् सू० १-७]

अवेष्टितो वेष्टितो वा भूतसक्षमैः पुमान् व्रजेत् ।

भूतानां सुलभत्वेन यात्यवेष्टित एव सः ॥ १ ॥

बीजानां दुर्लभत्वेन निराधारेन्द्रियागतेः ।

पञ्चमाहुतियुक्तेश्च जीवस्तैर्याति वेष्टितः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—जीव मरनेके अनन्तर सूक्ष्मभूतोंसे अवेष्टित जाता है या वेष्टित जाता है ?

पूर्वपक्ष—अवेष्टित जाता है, क्योंकि भूत सर्वत्र सुलभ हैं ।

सिद्धान्त—जीव सूक्ष्मभूतोंसे युक्त जाता है, क्योंकि भूतके सुलभ होनेपर भी देहके बीज भूत सर्वत्र सुलभ नहीं हैं और निराधार इन्द्रियोंकी गति नहीं हो सकती और पञ्चम आहुतिका कथन है ।

* इस अधिकरणका मतलब यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—पूर्वपादमें प्रतिपादित प्राणोपाधिक जीव अन्य शरीरकी प्राप्तिके समयमें पूर्व शरीरसे भावी शरीरके बीजभूत सूक्ष्मभूतोंसे वेष्टित नहीं जाता है, क्योंकि पञ्चभूत सर्वत्र सुलभ हैं, इसलिए उनको साथमें ले जाना निरर्थक है ।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि सामान्य भूत सर्वत्र सुलभ हैं, तथापि देहके कारण भूत सर्वत्र सुलभ नहीं है, इससे यहाँसे भूत जाते हैं । किञ्च जीवके उपाधिभूत इन्द्रियोंका भूतके आधार बिना परलोकगमन नहीं हो सकता है, क्योंकि जीवनकी दशामें ऐसा देखा नहीं जाता है । श्रुति भी इसी अर्थको कहती है—‘पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति’ अर्थात् स्वर्गलोक, मेघ, पृथिवी, पुरुष और स्त्री ये पाँच पदार्थ उपासनामें अक्षिरूपसे स्वीकृत हैं । उन अक्षियोंमें स्वर्गके प्रति आता और जाता हुआ जीव आहुतिरूपसे परिकल्पित है, इष्टापूर्तकारी जीव स्वर्गमें जाकर वहाँसे उपभोग द्वारा पुण्य कर्मोंके क्षीण होनेपर मेघमें जाकर फिर वृष्टिरूपसे पृथिवीमें आता है और अन्नरूपसे पुरुषको प्राप्तकर फिर रेतोद्वारा स्त्रीमें प्रवेश करके शरीरका ग्रहण करता है । इसलिए अपञ्चम्भसे उपलब्धित देहके बीजभूत पाँचों भूत जीवके साथ स्वर्ग आदि पाँच स्थानोंमें पहुँचकर पाँचवें स्थानमें शरीर भाव प्राप्त करके पुरुष शब्दसे वाच्य होते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि—बीजोंसे वेष्टित ही जीव परलोकमें जाता है ।

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननि- रूपणाभ्याम् ॥१॥

पदच्छेद—तदन्तरप्रतिपत्तौ, रंहति, सम्परिष्वक्तः, प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।

पदार्थोक्ति—तदन्तरप्रतिपत्तौ—देहान्तरप्राप्तौ, [भाविशरीराम्भकभूत-सूक्ष्मैः] सम्परिष्वक्तः—परिवेष्टितः, [सन् धूमादिमार्गेण स्वर्गलोकं] रंहति—गच्छति, [कुतः ?] प्रश्ननिरूपणाभ्याम्—‘वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषपचसो भवन्ति’ इति प्रश्नः, तथा ‘इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषपचसो भवन्ति’ इति प्रतिवचनम्, ताभ्याम् हेतुभ्यामित्यर्थः ।

भाषार्थ—अन्य देहकी प्राप्तिमें देहके बीजभूत भूतसूक्ष्मोंसे परिवेष्टित ही जीव धूमादि मार्गद्वारा स्वर्गलोकमें गमन करता है, क्योंकि ‘वेत्थ यथा०’ (पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषसंज्ञक होता है, क्या तू उसे जानता है ?) यह प्रश्न और ‘इति तु पञ्चम्यामाहुता०’ (इस प्रकार पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषसंज्ञक होता है) यह निरूपण—प्रतिवचन है ।

भाष्य

द्वितीयेऽध्याये स्मृतिन्यायविरोधो वेदान्तविहिते ब्रह्मदर्शने परिहृतः । परपक्षाणां चानपेक्षत्वं प्रपञ्चितम् । श्रुतिविप्रतिषेधश्च परिहृतः । तत्र च भाष्यका अनुवाद

द्वितीय अध्यायमें वेदान्तप्रतिपादित ब्रह्मज्ञानमें श्रुति और न्यायके विरोधका परिहार किया गया है । एवं परपक्ष अपेक्षित नहीं है इसका विस्तारपूर्वक वर्णन तथा श्रुतियोंके विरोधका निराकरण किया गया है । और उनमें जीवसे

रत्नप्रभा

ॐ ब्रह्मणे नमः ।

यं हि वैराग्यसम्पन्नास्तत्त्वमर्थविवेकिनः ।

लभन्ते साधनैर्दान्तास्तं सीतानायकं भजे ॥ १ ॥

वृत्तम् अनूद्य तृतीयाध्यायार्थमाह—द्वितीय इत्यादिना । अविरुद्धे वेदान्तार्थे रत्नप्रभाका अनुवाद

वैराग्यसे युक्त, अर्थ-अनर्थके विवेकी तथा दान्त-जितेन्द्रिय लोग जिस तत्त्वको अनेक साधनोंसे प्राप्त करते हैं, उस तत्त्व, सीताके नायक श्रीरामचन्द्रका मैं भजन करता हूँ ॥ १ ॥

‘तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्’ । वृत्तका अनुवाद करके तृतीय अध्यायका अर्थ—विषय कहते हैं—“द्वितीय” इत्यादिसे । वेदान्तार्थके अविरुद्ध सिद्ध

भाष्य

जीवव्यतिरिक्तानि तत्त्वानि जीवोपकरणानि ब्रह्मणो जायन्त इत्युक्तम् । अथेदानीमुपकरणोपहितस्य जीवस्य संसारगतिप्रकारस्तदवस्थान्तराणि ब्रह्म-सतत्त्वं विद्याभेदाभेदौ गुणोपसंहारानुपसंहारौ सम्यग्दर्शनात्पुरुषार्थसिद्धिः सम्यग्दर्शनोपायविधिप्रभेदो मुक्तिफलानियमश्चेत्येतदर्थजातं तृतीयेऽध्याये निरूपयिष्यते प्रसङ्गागतं च किमप्यन्यत् । तत्र प्रथमे तावत्पादे पञ्चाग्निविद्यामाश्रित्य संसारगतिप्रभेदः प्रदर्श्यते वैराग्यहेतोः, 'तस्माज्जुगु-

भाष्यका अनुवाद

अतिरिक्त जो जीवके उपकरण हैं, वे ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं, यह कहा गया है । अब उपकरणोंसे सहित जीवकी संसारगतिका प्रकार, उसकी अम्य अवस्थाएँ, ब्रह्मका तत्त्व, विद्याका भेद और अभेद, गुणोंका उपसंहार और अनुपसंहार, सम्यग्ज्ञानसे पुरुषार्थकी सिद्धि, सम्यग्ज्ञानके उपायकी भिन्न-भिन्न विधियोंका भेद और मुक्तिफलका अनियम—इन विषयोंका तृतीय अध्यायमें निरूपण किया जायगा, और प्रसंगसे आया हुआ कुछ और भी कहा जायगा । वहाँ प्रथम पादमें पंचाग्नि विद्याका आश्रयण करके संसारगतिका प्रभेद वैराग्यके लिए दिखलाया जाता है, क्योंकि 'तस्माज्जुगुप्सेत्' (उससे—आवागमनमें

रत्नप्रभा

तज्ज्ञानसाधनचिन्तावसर इत्यनयोर्हेतुहेतुमद्भावः । लिङ्गोपाधिसिद्धौ तदुपहित-जीवसंसारचिन्ता इति पादयोरपि तद्भावसंगतिः । अत्र प्रथमपादे वैराग्यं, द्वितीये स्वप्नाद्यवस्थोक्त्या त्वम्पदार्थो ब्रह्मतत्त्वं च उच्यते । तृतीये वाक्यार्थः, तदर्थमुपासनाश्च विचार्यन्ते । चतुर्थपादार्थम् आह—सम्यग्दर्शनादिति । दर्शनोपायाः—संन्यासादयः । मुक्तिरूपफलस्य स्वर्गवत् तारतम्यनियमाभावः, एकरूपत्वम् इति यावत् । प्रसंगागतम्—देहात्मदूषणम् । पञ्चसु द्युपजर्न्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु अग्नित्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेपर उसके ज्ञानसाधनकी चिन्ताका अवसर उपस्थित होता है, इससे दूसरे और तीसरे अध्यायके अर्थमें हेतुहेतुमद्भाव संगति—संबन्ध है । लिङ्गोपाधि—जीवके उपकरण सिद्ध होनेपर उस उपाधिवाले जीवकी संसारगतिका चिन्ता-विचार होता है, इससे पिछले पाद और इस पादमें भी हेतुहेतुमद्भाव—कार्यकारणभाव ही संबन्ध है । यहाँ प्रथम पादमें वैराग्यका निरूपण है । द्वितीय पादमें स्वप्नादि अवस्थाओंकी उक्तिसे त्वंपदका अर्थ और ब्रह्मतत्त्व कहा गया है । तृतीयमें वाक्यार्थ—तत्-त्त्वंका ऐक्य और उसके लिए उपासनाका विचार किया गया है । चतुर्थपादका अर्थ कहते हैं—“सम्यग्दर्शनात्” इत्यादिसे । दर्शनोपाय—सम्यग्ज्ञानके उपाय

भाष्य

प्सेत्' इति चान्ते श्रवणात् । जीवो मुख्यप्राणसचिवः सेन्द्रियः समनस्को-
ऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वदेहं विहाय देहान्तरं प्रतिपद्यत इत्येतदवग-
तम्, अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति' इत्येवमादेः 'अन्यन्नवतरं कल्या-
णतरं रूपं कुरुते' (बृ० ४।४।१, ४) इत्येवमन्तात् संसारप्रकरणस्थाच्छब्दात्,
धर्माधर्मफलोपभोगसंभवाच्च । स किं देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैरसंपरिष्वक्तो
गच्छत्याहोस्वित्संपरिष्वक्त इति चिन्त्यते । किं तावत्प्राप्तम् ? असंपरिष्वक्त

भाष्यका अनुवाद

दुःख होनेसे स्वर्गादिसे विरक्त होवे) ऐसी अन्तमें श्रुति है । मुख्य प्राण, इन्द्रिय,
मन, अविद्या, कर्म और जन्मान्तरके संस्कारोंके साथ जीव पूर्वदेहका त्याग
कर दूसरा देह प्राप्त करता है, ऐसा समझा गया है, क्योंकि 'अथैनमेते
प्राणा०' (मरणकालमें ये वाक् आदि इन्द्रियां जीवके साथ हृदयमें एकत्रित
हो जाती हैं) यहांसे लेकर 'अन्यन्नवतरम्०' (दूसरा, अधिक नवीन और
कल्याणतर रूप—देहान्तरका ग्रहण करता है) यहां तक संसारप्रकरणमें शब्द-
श्रुति है । और धर्म और अधर्मके फलके उपभोगका संभव भी है । वह जीव
क्या देहके बीज भूतोंके सूक्ष्म भागोंके साथ असम्बद्ध जाता है या संबद्ध ?
इसका विचार किया जाता है । तब क्या प्राप्त होता है ? असम्बद्ध जाता है,

रत्नप्रभा

ध्यान—पञ्चाग्निविद्या । यस्मात् कर्मणा गत्यागतिरूपः अनर्थः, तस्मात् कर्मफले
जुगुप्सां घृणां विरक्तिं कुर्वीत इति पञ्चाग्निविद्योपसंहारे श्रवणात् वैराग्यार्थं प्रदर्श्यते
इत्यन्वयः । शास्त्रादिसूत्रे नित्यानित्यविवेककृतं वैराग्यम् उक्तम्, इह तद्वाढ्याय
गत्यागतिक्लेशभावनाकृतं तदुच्यते इत्यपौनरुक्त्यम् । अधिकरणविषयमाह—
जीव इति । अविद्या प्रसिद्धा । विद्येति पाठे उपासना ग्राह्या । कर्म—धर्माधर्मा-
ख्यम् । पूर्वप्रज्ञा—जन्मान्तरसंस्कारः । अथ मरणकाले प्राणा हृदये जीवेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

संन्यास आदि हैं । मुक्तिरूप फलका स्वर्गके समान तारतम्यरूप नियमका अभाव है अर्थात् एक
रूप है । प्रसङ्गसे आया हुआ कुछ अन्य अर्थात् देहात्मदूषण । स्वर्ग, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और
स्त्री इन पाँचोंमें अग्निदृष्टि रखना अर्थात् अग्निरूपसे ध्यान करना, पंचाग्निविद्या है । जिससे
कर्मद्वारा संसारमें गमन और आगमनरूप अनर्थ होता है, उससे कर्मफलमें जुगुप्सा-घृणा-विरक्ति
करनी चाहिए, ऐसी पंचाग्निविद्याके उपसंहारमें श्रुति है, इससे [संसारगतिका प्रभेद—पुण्य-
पापरूप फलकी गतिका प्रकार] वैराग्यके अर्थ दिखलाये गये हैं, ऐसा अन्वय है । शास्त्रके

भाष्य

इति । कुतः ? करणोपादानवद् भूतोपादानस्याश्रुतत्वात् । 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानः' (बृ० ४।४।१) इति ह्यत्र तेजोमात्राशब्देन करणानामुपादानं संकीर्तयति, वाक्यशेषे चक्षुरादिसंकीर्तनात् । नैवं भूतमात्रोपादानसंकीर्तनमस्ति, सुलभाश्च सर्वत्र भूतमात्राः, यत्रैव देह आरब्धव्यस्तत्रैव सन्ति ततश्च तासां नयनं निष्प्रयोजनम्, तस्मादसंपरिष्वक्तो यातीति ।

भाष्यका अनुवाद

ऐसा । किससे ? इससे कि इन्द्रियोंके उपादानके समान भूतोंका उपादान श्रुतिमें नहीं कहा गया है । 'स एतास्तेजोमात्राः०' (वह आत्मा इन तेजके अवयवोंको साथ लेकर) इसमें 'तेजोमात्राः' शब्दसे श्रुति करणोंका उपादान कहती है, क्योंकि वाक्यशेषमें चक्षु आदिका कथन है । इस प्रकार भूतमात्राके उपादानका कथन नहीं है । और भूतोंके अवयव सर्वत्र सुलभ हैं । जहां देहका आरम्भ होगा, वहीं वे वर्तमान हैं, इसलिए उनको—भूतमात्राओंको साथ ले जाना, निष्प्रयोजन है । इससे जीव असम्बद्ध ही जाता है ।

रत्नप्रभा

एकीभवन्तीत्यर्थः । रूपं—शरीरम् । पञ्चीकृतभूतभागाः उत्तरदेहपरिणामिनः—भूतसूक्ष्माः । वेदान्तार्थज्ञानसाधनविचारत्वात् सर्वाधिकरणानां श्रुतिशास्त्राध्यायसङ्गतयः । वैराग्यफलकत्वादेतत्पादसंगतिः । पूर्वाधिकरणे व्यवहारार्थं पञ्चीकरणमुक्तम् । स व्यवहारोऽत्र निरूप्यत इति फलफलिभावोऽवान्तरसंगतिः । अत्र पूर्वपक्षे निराश्रयप्राणगत्यभावात् न वैराग्यम्, सिद्धान्ते भूताश्रयप्राणगतेः वैराग्यमिति फलभेदः । तेजोमात्राः—चक्षुरादयः । पश्यति जिघ्रतीति वाक्यशेषात् । आपः पञ्चस्वग्निषु हुताः पञ्चम्याम् आहुतौ हुतायां यथा पुरुषशब्दवाच्याः पुरुषात्मना

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिके सूत्रमें नित्यानित्यविवेकरूप वैराग्य कहा गया है, और यहां संसारमें गमनागमन क्लेशकी भावनासे उत्पन्न वैराग्यकी दृढ़ता कही गई है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है । अधिकरणका विषय कहते हैं—“जीव” इत्यादिसे । अविद्या प्रसिद्ध है । [अनादि, अनिर्वाच्य, चित्प्रतिबिम्बका निमित्त होनेसे जो जीवत्वका कारण है, वह अविद्या है] यदि 'विद्या' पाठ हो, तो उपासनारूप अर्थ लेना चाहिए । कर्म—धर्म-अधर्म संज्ञक । पूर्वज्ञा—जन्मान्तरीय संस्कार । मरणकालमें प्राण हृदयमें जीवके साथ एक हो जाते हैं, ऐसा अर्थ है । रूप-शरीर । उत्तर देहमें परिणामी पञ्चीकृत भूतोंके भाग 'भूतसूक्ष्म' है । सब अधिकरणोंमें वेदान्तके अर्थ—

भाष्य

एवं प्राप्ते पठत्याचार्यः—तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्त इति । तदन्तरप्रतिपत्तौ देहात् देहान्तरप्रतिपत्तौ देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहति गच्छतीत्यवगन्तव्यम् । कुतः ? प्रश्ननिरूपणाभ्याम् । तथाहि प्रश्नः—‘वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति’ (छा० ५।३।३) इति । निरूपणं च प्रतिवचनं द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोरूपाः पञ्चाहुतीर्दर्शयित्वा ‘इति तु पञ्च-

भाष्यका अनुवाद

ऐसा प्राप्त होनेपर आचार्य कहते हैं—‘तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्त’ इति । उस देहसे अन्य देहकी प्राप्तिमें देहके बीजभूत भूतोंके सूक्ष्म-मात्राओंके साथ सम्बद्ध (जीव) रंहति—जाता है, ऐसा समझना चाहिए । किससे ? प्रश्न और उसके निरूपणसे । क्योंकि ‘वेत्थ यथा०’ (पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषसंज्ञक होता है, यह तू जानता है ?) ऐसा प्रश्न है । और स्वर्ग, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और स्त्री इन पांच अग्नियोंमें श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और रेत ये पांच आहुतियां हैं, ऐसा दिखलाकर ‘इति तु पञ्चम्या०’ (इस प्रकार पांचवीं आहुतिके प्रक्षेप होनेपर जल पुरुषसंज्ञक होता है) ऐसा निरूपण

रत्नप्रभा

परिणमन्ते तथा किं त्वं वेत्थेति श्वेतकेतुं प्रति राज्ञः प्रवाहणस्य प्रश्नः । तस्य चोत्तराज्ञाने तत्पितरं प्रति राजोवाच [छा० १।४।१ (बृ० ६।२।९)]—‘असौ वाव लोको गौतमाग्निः’ तत्र श्रद्धारूपाः आपः आहुतिः, पर्जन्याग्नौ सोमरूपाः इह खल्वग्निहोत्रे श्रद्धया हुताः दध्यादिरूपा आपो यजमानसंलग्नाः स्वर्गं लोकं प्राप्य सोमारूपदिव्यदेहात्मना स्थिताः कर्मान्ते हुताः पर्जन्ये ह्वयन्ते, ततो वृष्टिरूपाः पृथिव्याम्, अन्नरूपाः पुरुषे, रेतोरूपाः योषिति हुताः आपः पुरुष-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मका जो ज्ञान है, उसके साधनोंका विचार किया गया है, इसलिए श्रुति, शास्त्र और अध्यायोंकी संगति है, वैराग्य इसका फल है, इससे इस पादकी संगति है । पूर्व अधिकरणमें व्यवहारके लिए पंचीकरण कहा गया है, उस व्यवहारका यहां निरूपण किया गया है, इससे फलफलिभाव—कार्यकारणभाव अवान्तर संगति है । पूर्वपक्षमें निराश्रय प्राणकी गति न होनेसे वैराग्य सिद्ध नहीं होता है, और सिद्धान्तमें तो भूताश्रय प्राणोंकी गति होनेसे वैराग्य सिद्ध होता है, ऐसा फलभेद है । तेजोमात्रा—चक्षु आदि इन्द्रियां, क्योंकि पश्यति—देखता है, जिप्रति—सूँघता है, ऐसा वाक्यशेष है । पांच अग्नियोंमें आहुति—हवन किया गया जल

भाष्य

म्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।९।१) इति । तस्मादद्भिः परिवेष्टितो जीवो रहति व्रजतीति गम्यते । नन्वन्या श्रुतिर्जलूकावत्पूर्वदेहं न मुञ्चति यावन्न देहान्तरमाक्रमतीति दर्शयति—'तद्यथा तृणजलायुका' (बृ० ४।४।३) इति । तत्राप्यप्परिवेष्टितस्यैव जीवस्य कर्मोपस्थापित-

भाष्यका अनुवाद

हे । इसलिए जलसे परिवेष्टित ही जीव जाता है, ऐसा समझा जाता है । परन्तु 'तद्यथा तृणजलायुका' (उसमें—देहान्तरसंचारमें जैसे तृणजलायुका—कीट विशेष) इस प्रकारकी अन्य श्रुति कीटके समान जबतक अन्य देहमें जीव नहीं जाता, तबतक पूर्वदेहका त्याग नहीं करता, ऐसा दिखलाती है । उसमें भी अप्-जलसे परिवेष्टित ही जो जीव है, उसके कर्मसे उपस्थापित प्राप्त करनेके योग्य

रत्नप्रभा

शब्दवाच्याः—पुमात्मका भवन्ति' इति निरूपणं कृतम् । ननु एतद्देहं त्यक्त्वा अद्भिः सह गतस्य पश्चाद् देहान्तरप्राप्तिः, इति अयुक्तम् । यथा तृणजलायुका तृणान्तरं गृहीत्वा पूर्वतृणं त्यजति, तथा जीवो देहान्तरं गृहीत्वा पूर्वदेहं त्यजतीति श्रुतिविरोधादिति शङ्कते—नन्वन्येति । इहैव कर्मायत्तभाविदेहं देवोऽहमित्यादिभावनया गृहीत्वा पूर्वदेहं त्यजतीति श्रुत्यर्थः । अतो न विरोधः इति समाधत्ते—तत्रापीति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पांचवीं आहुति होनेपर जैसे पुरुषशब्दवाच्य होता हुआ पुरुष (मनुष्य) शरीररूपमें परिणत होता है, उसे क्या तू जानता है ? ऐसा श्वेतकेतुसे प्रवाहण राजाका प्रश्न है । उसके उत्तरका ज्ञान न होनेपर उसके पितासे राजाने कहा—'असौ वाव लोको०' (हे गौतम ! वह स्वर्गलोक अग्नि है, उसमें श्रद्धानामक जल आहुति है, पर्जन्यरूप अग्निमें सोमरूप आहुति है, यहां अग्निहोत्रमें श्रद्धासे हवन किया गया दधि आदिरूप जल यजमानके साथ संलग्न होकर स्वर्गलोक प्राप्त करके सोमसंज्ञक दिव्य देहस्वरूपसे स्थित कर्मके अन्तमें पिघलकर (द्रवीभूत होकर) पर्जन्यमें आहुत होता है, पीछे यही हवन किया गया जल पृथिवीमें ऋष्टिरूप, पुरुषमें अन्नरूप और स्त्रीमें रेतोरूप, पुरुषशब्दवाच्य—पुमात्मक होता है) ऐसा निरूपण किया है । परन्तु इस देहका त्याग करके जलके साथ गया हुआ जीव पीछे देहान्तर प्राप्त करता है, यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि जैसे तृणजलायुका—कीट अन्य तृणका ग्रहण करके पूर्व तृणका त्याग करता है, वैसे ही जीव भी अन्य देहका ग्रहण करके पूर्व देहका त्याग करता है, इस श्रुतिसे विरोध है, ऐसी शंका करते हैं—'नन्वन्या' इत्यादिभिः । यहीपर कर्मसे उपस्थापित जो प्राप्तव्य देह है उसे 'मैं देव हूँ' इत्यादि भावना द्वारा प्राप्त कर (जीव) पूर्वदेहका त्याग करता है, ऐसा श्रुत्यर्थ है । इससे विरोध नहीं है, ऐसा समाधान करते हैं—'तत्रापि'

भाष्य

प्रतिपत्तव्यदेहविषयभावनादीर्घीभावमात्रं जलूकयोपमीयत इत्यविरोधः । एवं श्रुत्युक्ते देहान्तरप्रतिपत्तिप्रकारे सति याः पुरुषमतिप्रभवाः कल्पनाः—व्यापिनां करणानामात्मनश्च देहान्तरप्रतिपत्तौ कर्मवशाद् वृत्तिलाभस्तत्र भवति, केवलस्यैवात्मनो वृत्तिलाभस्तत्र भवति, इन्द्रियाणि तु देहवदभिनवान्येव तत्र तत्र भोगस्थान उत्पद्यन्ते, मन एव वा केवलं भोगस्थानमभिप्रतिष्ठते, जीव एव वोत्प्लुत्य देहादेहान्तरं प्रतिपद्यते शुक्र इव वृक्षाद् वृक्षान्तरम्—

भाष्यका अनुवाद

जो देह है, तद्विषयक भावना दीर्घीभावमात्र ही जलूक-कीटसे उपमित है, अतः विरोध नहीं है । एक रीतिसे अन्य देहकी प्राप्ति का प्रकार श्रुतिमें कहा गया है । इसलिये पुरुषबुद्धिसे उत्पन्न हुई जो कल्पनाएँ हैं—‘आत्मा और इन्द्रियां व्यापक हैं जब वे अन्य देह प्राप्त करते हैं तब कर्मवशसे उस देहमें वृत्तिलाभ होता है, केवल आत्माका ही उसमें वृत्तिलाभ होता है, इन्द्रियां तो देहके समान नयी-नयी ही बन-बन भोगस्थानोंमें उत्पन्न होती हैं । अथवा केवल मन ही भोगस्थानके प्रति जाता है, जैसे शुक्र एक वृक्षसे कूदकर दूसरे वृक्षपर जा बैठता है, वैसे

रत्नप्रभा

भावनाया दीर्घीभावः—भाविदेहविषयत्वम् । घटाकाशवदुपहितो जीवः सूक्ष्मोपाधि-गत्या लोकान्तरं गच्छतीति पञ्चांनिश्रुत्युक्तः प्रकारः, तद्विरोधात् अन्याः कल्पनाः सर्वा अनादर्तव्या इत्यन्वयः । साङ्ख्यकल्पनामाह—व्यापिनामिति । सुगत-कल्पनामाह—केवलस्येति । निर्विकल्पकज्ञानसन्तानरूपस्य आत्मनः देहान्तरे शब्दादिसविकल्पकज्ञानाख्यवृत्तिलाभो भवतीत्यर्थः । काणादकल्पनामाह—मन इति । देहान्तरं प्रति मनोमात्रं गच्छति । इन्द्रियाणि तु नूतनान्येवा

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । भावनाका दीर्घीभाव—भाविदेहविषयत्व । घटाकाशके समान उपाधिवाला जीव सूक्ष्म उपाधिकी गतिसे अन्य लोकमें जाता है, यह पंचाग्निश्रुतिमें कहा गया प्रकार है, उससे विरोध होनेके कारण अन्य कल्पनाएँ सबके सब अनादरणीय है, ऐसा अन्वय है । सांख्योंकी कल्पना कहते हैं—“व्यापिनाम्” इत्यादिसे । सुगतोंकी कल्पना कहते हैं—“केवलस्य” इत्यादिसे । निर्विकल्पकज्ञानका सन्तानरूप जो आत्मा है, उसका अन्य शरीरमें शब्दादिसविकल्पक ज्ञानसंज्ञक वृत्तिलाभ होता है, ऐसा अर्थ है । काणादोंकी कल्पना कहते हैं—“मन” इत्यादिसे ।

भाष्य

इत्येवमाद्याः ताः सर्वा एवानादर्त्तव्याः, श्रुतिविरोधात् ॥ १ ॥

ननुदाहृताभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां केवलाभिरङ्गिः संपरिष्वक्तो रंहतीति प्राप्नोति, अपश्चन्दश्रवणसामर्थ्यात् । तत्र कथं सामान्येन प्रतिज्ञायते सर्वैरेव भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहतीति । अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

जीव ही एक देहसे कूदकर अन्य देह प्राप्त करता है,—इत्यादि सभी अनादरणीय हैं, क्योंकि श्रुतियोंके साथ उनका विरोध है ॥१॥

परन्तु निर्दिष्ट किये गये प्रश्न और प्रतिवचनसे जीव जलसे परिवेष्टित ही जाता है, क्योंकि अप् (जल) शब्दके श्रवणका सामर्थ्य है, तो सभी भूतसूक्ष्मोंसे संलग्न जीव जाता है, ऐसी सामान्य प्रतिज्ञा कैसे की है ? इससे उत्तर पढ़ते हैं—

रत्नप्रभा

आरभ्यन्ते । दिगम्बरकल्पनामाह—जीव इति ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य देहके प्रति केवल मन ही जाता है, इन्द्रियां तो नूतन ही उत्पन्न होती हैं । दिगम्बरोंकी कल्पना कहते हैं—“जीव” इत्यादिसे ॥१॥

त्र्यात्मकत्वात् भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

पदच्छेद—त्र्यात्मकत्वात्, तु, भूयस्त्वात् ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दः आशङ्कानिवृत्त्यर्थः, [त्रिवृत्करणश्रुत्या अपाम् इतरभूतद्वयमेलनेन] त्र्यात्मकत्वात्—भूतत्रयात्मकत्वात् [जलेतरभूतपरिष्वङ्गस्यापि सिद्धिः, ननु श्रुतौ जलभूयस्त्वं कथं सयुक्तिकमिति चेत्, न;] भूयस्त्वात्—तेज आद्यपेक्षया शरीरे जलभागस्याधिक्यात् इत्यर्थः ।

भाषार्थ—त्रिवृत्करण श्रुतिसे अन्य दो भूतोंके मेलनसे जल त्र्यात्मक है, अतः जलसे इतर भूतोंका परिष्वङ्ग सिद्ध है, यदि कोई कहे कि श्रुतिमें जल-भूयस्त्व अनुपपन्न है, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि तेज आदिकी अपेक्षासे शरीरमें जलका आधिक्य है ।

भाष्य

तुशब्देन चोदितामाशङ्कामुच्छिनत्ति । व्यात्मिका ह्यापः, त्रिवृत्करण-
श्रुतेः । तास्वारम्भिकास्वभ्युपगतास्वितरदपि भूतद्वयमवश्यमभ्युपगन्तव्यं
भवति । व्यात्मकश्च देहः, त्रयाणामपि तेजोबन्धानां तस्मिन्कार्योपलब्धेः;
पुनश्च व्यात्मकः, त्रिधातुत्वात्—त्रिभिर्वातपित्तश्लेष्मभिः । न भूतान्तराणि
स प्रत्याख्याय केवलाभिरद्भिरारब्धुं शक्यते । तस्माद्भूयस्त्वापेक्षोऽयमापः
पुरुषवचस इति प्रश्नप्रतिवचनयोरप्यशब्दो न कैवल्यापेक्षः, सर्वदेहेषु हि
रसलोहितादिद्रवद्रव्यभूयस्त्वं दृश्यते । ननु पार्थिवो धातुर्भूयिष्ठो देहेषु-
पलक्ष्यते । नैष दोषः । इतरापेक्षयाप्यपां बाहुल्यं भविष्यति । दृश्यते च
शुक्रशोणितलक्षणेऽपि देहबीजे द्रवबाहुल्यम् । कर्म च निमित्तकारणं देहा-

भाष्यका अनुवाद

अवतरणमें की गई आशंकाका तुशब्दसे उच्छेद करते हैं । जल व्यात्मक है,
क्योंकि त्रिवृत्करण की श्रुति है । उस जलको, देहका आरम्भक स्वीकार करनेपर
दूसरे दो भूत—तेज और पृथिवीमें भी आरम्भकत्व अवश्य स्वीकार करना
योग्य है । और देह व्यात्मक है, क्योंकि तेज, जल और अन्न इन तीनोंका
कार्य उसमें उपलब्ध होता है । फिर भी देह व्यात्मक है, क्योंकि वात, पित्त
और श्लेष्म होनेसे उसमें तीन धातु हैं । अन्य भूतोंका प्रत्याख्यान कर केवल
जलसे वह उत्पन्न नहीं हो सकता, इसलिए 'जल पुरुषात्मक होता है' ऐसा जो
प्रश्न और प्रतिवचनमें जल शब्द है, वह जलके कैवल्यकी अपेक्षासे नहीं है, किन्तु
भूयस्त्वकी अपेक्षासे है । क्योंकि सब देहोंमें रस, लोहित आदि द्रवद्रव्यत्वका
बाहुल्य देखनेमें आता है । परन्तु पार्थिव धातु भी देहोंमें भूयिष्ठ—अधिकतर
देखा जाता है । यह दोष नहीं है, क्योंकि दूसरे—तेज और वायुकी अपेक्षासे जलका

रत्नप्रभा

ननु पाकस्वेदगन्धरूपकार्यत्रयोपलब्धेः व्यात्मको देह इति अयुक्तम्, प्राणाव-
काशयोरप्युपलब्ध्या देहस्य पञ्चभूतात्मत्वात्, इत्यरुच्या व्याख्यान्तरमाह—
पुनश्चेति । देहधारकत्वात् धातवो वातादयः, तैः त्रिधातुत्वात् व्यात्मक इत्यन्वयः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु भुक्त अन्नके पाक, स्वेद और गन्ध ये तीन कार्य देहमें उपलब्ध होते हैं, अतः देह
व्यात्मक है, ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि प्राण और अवकाशरूप कार्योंकी भी
उपलब्धिसे देह पञ्चभूतात्मक है, इस अरुचिसे अन्य व्याख्या करते हैं—“पुनश्च” इत्यादिसे ।
वात, पित्त और कफ ये तीन देहके धारक होनेसे धातु हैं । इनसे तीन धातुवाला होनेके
कारण देह व्यात्मक है, ऐसा अन्वय है । देह केवल जलसे उत्पन्न है, ऐसा माननेपर, वात

भाष्य

न्तरारम्भे । कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि सोमाज्यपयःप्रभृतिद्रवद्रव्यव्यपा-
श्रयाणि । कर्मसमवायिन्यश्वापः श्रद्धाशब्दोदिताः सह कर्मभिर्द्युलोकाख्ये-
ऽग्नौ हूयन्ते इति वक्ष्यति, तस्मादप्यपां बाहुल्यप्रसिद्धिः । बाहुल्याच्चा-
शब्देन सर्वेषामेव देहबीजानां भूतसूक्ष्माणामुपादानमिति निरवद्यम् ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

बाहुल्य होगा । और शुक्र, शोणितरूप देहबीजमें भी द्रवका बाहुल्य देखनेमें
आता है । और अन्य (स्वर्गीय) देहकी उत्पत्तिमें कर्म निमित्तकारण है ।
अग्निहोत्र आदि कर्म सोम, आज्य, पय आदि द्रवद्रव्यके आश्रित होते हैं । और
कर्ममें स्थित जो जल श्रद्धाशब्दसे कहा गया है, वह कर्मोंके साथ द्युलोकसंज्ञक
अग्निमें प्रक्षिप्त किया जाता है, ऐसा आगे कहेंगे । इससे भी जलकी अधिकता
सिद्ध है । और आधिक्य होनेके कारण जल शब्दसे सभी देहके बीज भूत-
सूक्ष्मोंका ग्रहण है, यह निरवद्य है ॥ २ ॥

रत्नप्रभा

देहस्य केवलाब्जत्वे वातं पित्तं च वायव्यं तैजसं न स्याताम् इति भावः । पृथिवी-
तरभूतापेक्षया अपां बाहुल्यम् । किञ्च देहनिमित्तानां कर्मणाम् अब्बाहुल्यात्
ताभिर्भूतान्तराणि उपलक्ष्यन्त इत्याह—कर्म चेत्यादिना ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और पित्त जो वायव्य और तैजस हैं, वे उसमें नहीं होंगे, ऐसा भाव है । पृथिवीसे भिन्न
भूतोंकी अपेक्षा देहमें जलका आधिक्य है । किंच, देहके निमित्त कर्मोंमें जलका बाहुल्य होनेसे
जलसे अन्य भूत उपलक्षित होते हैं, ऐसा कहते हैं—“कर्म च” इत्यादिसे ॥ २ ॥

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

पदच्छेद—प्राणगतेः, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, प्राणगतेः—[‘तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति
इति श्रुतौ] प्राणानाम्—इन्द्रियाणाम्, गतेः—[जीवेन सह धूमादिमार्गेण]
स्वर्गलोकगमनश्रवणात्, [तत्परिष्वङ्गसिद्धिः]

भाषार्थ—और ‘तमुत्क्रामन्तम्’ इस श्रुतिमें इन्द्रियोंका जीवके साथ
धूमादि मार्ग द्वारा स्वर्गलोकमें गमन कहा गया है, इससे भी परिष्वङ्ग सिद्ध है ।

भाष्य

प्राणानां च देहान्तरप्रतिपत्तौ गतिः श्राव्यते—‘तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति प्राणमनुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति’ (बृ० ४।४।२) इत्यादिश्रुतिभिः । सा च प्राणानां गतिर्नाश्रयमन्तरेण संभवतीत्यतः प्राणगति-प्रयुक्ता तदाश्रयभूतानामपामपि भूतान्तरोपसृष्टानां गतिरर्थात् अवगम्यते । नहि निराश्रयाः प्राणाः क्वचिद्गच्छन्ति तिष्ठन्ति वा, जीवतो दर्शनात् ॥३॥

भाष्यका अनुवाद

अन्य देहकी प्राप्तिमें ‘तमुत्क्रामन्तम्’ (उसके—जीवके उत्क्रमण करनेपर प्राण उत्क्रमण करता है और प्राणके उत्क्रमण करनेपर सब प्राण उत्क्रमण करते हैं) इत्यादि श्रुतियां प्राणोंकी गतिका श्रवण कराती हैं । और प्राणोंकी वह गति आश्रयके बिना उपपन्न नहीं हो सकती है, इससे प्राणगतिमूलक प्राणके आश्रयभूत अन्य मूतोंसे संबद्ध जलकी भी गति अर्थतः समझी जाती है; क्योंकि निराश्रय प्राण कहीं जाते या रहते नहीं हैं, क्योंकि जीते हुए देहमें प्राण साश्रय देख पड़ते हैं [इस-लिए उत्क्रमणमें भी उन जीवोंके गति आदि साश्रय प्राणके साथ ही होंगे] ॥३॥

रत्नप्रभा

उत्क्रान्तौ प्राणाः देहबीजपञ्चभूताश्रयाः, प्राणत्वात्, जीवदेहस्थप्राणवत्, इत्याह—प्राणगतेऽप्येति ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्क्रमणमें प्राण देहके बीजरूप पंचभूतोंमें आश्रित हैं, प्राण होनेसे, जीते हुए देहमें स्थित प्राणके समान, ऐसा कहते हैं—“प्राणगतेऽप्येति” इत्यादिसे ॥३॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥४॥

पदच्छेद—अग्न्यादिगतिश्रुतेः, इति, चेत्, न, भाक्तत्वात् ।

पदार्थोक्ति—अग्न्यादिगतिश्रुतेः—[‘अग्निं वागप्येति सूर्यं चक्षुरप्येति मनश्चन्द्रमप्येति’ इत्यादि श्रुतौ मरणकाले इन्द्रियाणां तदभिमानिदेवतासु] अग्न्यादिषु गमनश्रवणात्, [इन्द्रियाणां जीवेन सह स्वर्गलोकप्राप्तिरनुपपन्ना] इति चेत्, न; भाक्तत्वात्—[‘तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति’ इत्याद्यनेकश्रुतिविरोधेन अग्न्यादिषु गमनश्रुतेः] गौणत्वात् ।

भाषार्थ—‘अग्निं वागप्येति’ इत्यादि श्रुतिमें मरणकालमें इन्द्रियोंका अग्नि आदिमें गमनश्रवण होनेसे जीवके साथ इन्द्रियां स्वर्गमें जाती हैं, यह कथन युक्त नहीं है, यदि ऐसा कहो, तो नहीं कह सकते, क्योंकि ‘तमुत्क्रामन्तम्’, इत्यादि अनेक श्रुतियोंके साथ विरोध होनेसे अग्नि आदिमें गतिप्रतिपादक श्रुति गौण है ।

भाष्य

स्यादेतत्—नैव प्राणा देहान्तरप्रतिपत्तौ सह जीवेन गच्छन्ति, अग्न्यादिगतिश्रुतेः । तथाहि श्रुतिर्मरणकाले वागादयः प्राणा अग्न्यादीन् देवान् गच्छन्तीति दर्शयति—‘यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणः’ (बृ० ३।२।१३) इत्यादिनेति चेत्, न; भाक्तत्वात् । वागादीनामग्न्यादिगतिश्रुतिर्गौणी, लोमसु केशेषु चादर्शनात् । ‘ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः’ (बृ० ३।२।१३) इति हि तत्रात्मनायते । नहि लोमानि केशाश्चोत्प्लुत्यौषधीर्वनस्पतींश्च गच्छन्तीति संभवति । नच जीवस्य प्राणोपाधिप्रत्याख्याने गमनमवकल्प्यते । नापि प्राणैर्विना देहान्तर उपभोग उपपद्यते, विस्पष्टं च प्राणानां सह जीवेन गमनमन्यत्र श्रावितम्, अतो

भाष्यका अनुवाद

परन्तु हो सकता है—अन्य देहकी प्राप्तिमें प्राण जीवके साथ नहीं जाते, कारण, अग्नि आदिमें गतिका श्रवण है । क्योंकि ‘यत्रास्य०’ (जहां इस मृत पुरुषकी वाणी अग्निमें प्रलीन होती है और प्राण वायुमें लीन होते हैं) इत्यादिसे मरण कालमें वाणी आदि प्राण, अग्नि आदि देवोंमें जाते हैं, ऐसा श्रुति दिखलाती है—यदि ऐसी शंका करो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि वह भाक्त—गौण है । वाक् आदिका अग्नि आदिमें गमन दिखलानेवाली श्रुति गौणी है, क्योंकि लोम और केशमें वह देखनेमें नहीं आता । ‘ओषधीर्लोमानि०’ (लोम औषधियोंमें और केश वनस्पतियोंमें प्रलीन होते हैं) ऐसी वहाँ श्रुति है । लोम और केश कृद्कर औषधि और वनस्पतिमें जाते हैं, ऐसा सम्भव नहीं है । इसी प्रकार प्राणरूप उपाधिके परित्याग करनेपर जीवका गमन नहीं हो सकता । और प्राणोंके बिना देहान्तरमें उपभोग भी नहीं हो सकता है और प्राणोंका जीवके

रत्नप्रभा

प्राणानां गतिः असिद्धा इत्याशङ्क्य निषेधति—अग्न्यादीति । अदर्शनात् औषधिवनस्पतिगमनस्य इति शेषः । लोमानि अपियन्तीत्यर्थः । प्राणानामग्न्यादिषु

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि प्राण साश्रय हैं, तो भी उनकी गति सिद्ध नहीं है, ऐसी आशंका कर इसका निषेध करते हैं—“अग्न्यादि” इत्यादिसे । लोम और केशोंमें उसका दर्शन नहीं है, उसका अर्थात् औषधि और वनस्पतियोंमें गमनका, इतना शेष है । लोम अपियन्ति—लीन होते हैं, ऐसा अर्थ है । प्राणोंका अग्नि आदिमें लय मुख्यार्थमें लेनेसे जीवकी गति और भोग

भाष्य

वागाद्यधिष्ठात्रीणामग्न्यादिदेवतानां वागाद्युपकारिणीनां मरणकाले उपकारनिवृत्तिमात्रमपेक्ष्य वागादयोऽग्न्यादीन्गच्छन्तीत्युपचर्यते ॥ ४ ॥

भाष्यका अनुवाद

साथ गमन श्रुतिमें अन्यत्र विस्पष्ट सुनाया गया है । इस कारणसे वाक् आदिकी अधिष्ठात्री अग्नि आदि देवता वाक् आदिके उपकारक हैं और मरणकालमें उनके उपकारकी केवल निवृत्तिकी अपेक्षासे वाक् आदि अग्नि आदिमें जाते हैं, ऐसा उपचार किया गया है ॥ ४ ॥

रत्नप्रभा

लयस्य मुख्यत्वे जीवस्य गतिभोगयोः अयोगात् 'सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' इति विस्पष्टश्रुतेः लोमादिगौणलयपाठात् च गौणत्वम् इत्यर्थः ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अयुक्त होते हैं, अतः 'सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' ऐसी स्पष्ट श्रुति होनेसे, और लोमादिमें गौण लय है, ऐसा पाठ होनेसे अग्न्यादि गति श्रुति गौणी है, ऐसा अभिप्राय है ॥४॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥५॥

पदच्छेद—प्रथमे, अश्रवणात्, इति, चेत्, न, ताः, एव, हि, उपपत्तेः ।

पदार्थोक्ति—[द्युलोकादिषु पञ्चाग्निषु] प्रथमे—आद्ये द्युलोकाख्ये अग्नौ ['तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ' देवाः श्रद्धां जुह्वति' इति श्रद्धाया एव आहुतित्वश्रुतेः अपाम्] अश्रवणात्—श्रवणाभावात् [कथं पुरुषवचस्त्वम्] इति चेत्, न, हि—यतः ['आपो हास्मै श्रद्धां सन्नमन्ते' इति श्रद्धाशब्देन तद्धेतवः] ता एव—आप एव [लक्ष्यन्ते, कुतः ?] उपपत्तेः—प्रश्नप्रतिवचनयोरुपपत्तेः ।

भाषार्थ—द्युलोक आदि पांच अग्निओंमें प्रथम—द्युलोकनामक अग्निमें 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ' इत्यादि श्रुतिसे श्रद्धामें ही आहुतित्वका श्रवण है जलमें नहीं है, अतः जलके पुरुषवचस्त्वकी अनुपपत्ति है, ऐसा यदि कहो, तो युक्त नहीं है, क्योंकि 'आपो हास्मै' इत्यादि श्रुतिसे जल ही लक्षित होता है, किससे ? प्रश्न और प्रतिवचनकी उपपत्तिसे ।

भाष्य

स्यादेतत्—कथं पुनः ‘पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति’ (छा० ५।३।३) इत्येतन्निर्धारयितुं पार्यते, यावता नैव प्रथमेऽग्रावपां श्रवणमस्ति । इह हि द्युलोकप्रभृतयः पञ्चाग्नयः पञ्चानामाहुतीनामाधारत्वेनाधीताः, तेषां च प्रमुखे ‘असौ वाव लोको गौतमाग्निः’ (छा० ५।४।१) इत्युपन्यस्य ‘तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति’ (छा० ४।४।२) इति श्रद्धा हौम्यद्रव्यत्वेनावेदिता । न तत्रापि हौम्यद्रव्यतया श्रुताः । यदि नाम पर्जन्यादिषूतरेषु चतुर्वर्गिण्येषां हौम्यद्रव्यता परिकल्प्येत, परिकल्प्यतां नाम । तेषु होतव्यतयोपात्तानां सोमादीनामवबहुलत्वोपपत्तेः । प्रथमे स्वर्गनौ श्रुतां श्रद्धां परित्यज्याश्रुता आपः परिकल्प्यन्त इति साहसमेतत् । श्रद्धा च नाम प्रत्ययविशेषः, प्रसिद्धिसामर्थ्यात् । तस्मादयुक्तः पञ्चम्याभाष्यका अनुवाद

यहां शंका होती है—प्रथम अग्निमें जलका श्रवण नहीं है । इससे ‘पञ्चम्यामा०’ (पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषात्मक होता है) ऐसा निर्धारण करना किस प्रकार शक्य है ? क्योंकि यहांपर द्युलोक आदि पांच अग्नियों पांच आहुतियोंके आधाररूपसे अधीत—श्रुत हैं । उनमेंसे प्रथममें ‘असौ वाव०’ (निश्चय, गौतम ! वह (स्वर्ग) लोक अग्नि है) ऐसा उपन्यास करके ‘तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ०’ (इस अग्निमें देव श्रद्धाका हवन करते हैं) इस प्रकार श्रद्धा होम करनेके लिए योग्य द्रव्यरूपसे बताई गई है । वहां होमके योग्य द्रव्यरूपसे जलका श्रवण नहीं है । यदि उत्तरके पर्जन्य आदि चार अग्नियोंमें जल हौम्यद्रव्य है, ऐसी कल्पना की जाय, तो आनन्दसे इसकी कल्पना कर सकते हो, क्योंकि उन अग्नियोंमें हवनीयरूपसे गृहीत सोम आदिमें जलके आधिक्यकी उपपत्ति है । परन्तु प्रथम अग्निमें श्रुत श्रद्धाका परित्याग करके अश्रुत जलकी कल्पना करते

रत्नप्रभा

भूतान्तरयुक्तानाम् अपां गतिम् उक्त्वा पुरुषवचस्त्वं तासाम् आक्षिप्य समाधत्ते—प्रथम इति । ननु प्रथमपदं व्यर्थम्, उत्तराग्निष्वपि अपाम् अश्रवणात् इत्याशङ्क्य सोमवृष्ट्यन्तरेतसाम् अब्रूपत्वात् उत्तरत्र तासां श्रवणमस्ति न प्रथम इत्याह—यदि नामेति । पञ्चाग्निष्वपि अपामाहुतित्वे सिद्धे तासां पञ्चम्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य भूतोंसे युक्त जलकी गति कहकर वह पुरुषात्मक किस प्रकार होता है, ऐसा आक्षेप कर समाधान करते हैं—“प्रथम” इत्यादिसे । परन्तु प्रथमपद व्यर्थ है, क्योंकि उत्तर

भाष्य

माहुतावपां पुरुषभाव इति चेत्, नैष दोषः; हि—यतः तत्रापि प्रथमेऽग्नौ ता एवापः श्रद्धाशब्देनाभिप्रेयन्ते । कुतः ? उपपत्तेः । एवं ह्यादिमध्यावसानसंगानादनाकुलमेतदेकवाक्यमुपपद्यते, इतरथा पुनः पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वप्रकारे पृष्टे प्रतिवचनावसरे प्रथमाहुतिस्थाने यद्यनपो हौम्यद्रव्यं श्रद्धां नामावतारयेत्ततोऽन्यथा प्रश्नोऽन्यथा प्रतिवचनमित्येकवाक्यता न स्यात् । ‘इति तु पञ्चम्यामाहुतावपाः पुरुषवचसो भवन्ति’

भाष्यका अनुवाद

हो, यह साहस है । इसी प्रकार प्रसिद्धिके सामर्थ्यसे श्रद्धा—प्रत्यय—विश्वासविशेष है । इससे पांचवीं आहुतिमें जलका पुरुषभाव युक्त नहीं है, यदि ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है; क्योंकि वहां मी प्रथम अग्निमें श्रद्धाशब्दसे वही जल अभिप्रेत है । किससे ? उपपत्तिसे । क्योंकि इस प्रकार आदि, मध्य और अन्तमें संगान—एकार्थता होनेसे बिना आयासके ही एक वाक्य उपपन्न होता है । अन्यथा पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषात्मक किस प्रकार होता है ? ऐसा प्रश्न होनेपर प्रतिवचनके अवसरमें यदि प्रथम आहुतिके स्थानमें जलसे अन्य हौम्यद्रव्यरूपसे श्रद्धाको कहो, तो प्रश्न एक प्रकारका और प्रतिवचन दूसरे प्रकारका, इस रीतिसे

रत्नप्रभा

माहुतौ पुरुषवचस्त्वं भवेत्, न तत्सिद्धम्, प्रथमाग्नौ तासाम् अनाहुतित्वात्, इति शङ्कार्थः । एवं हि श्रद्धाशब्देन अपां ग्रहे सति प्रश्नोत्तरोपसंहाराणां संगानाद्—एकार्थत्वात् एकवाक्यता उपपद्यते । अग्रहे तु चतुर्ध्वनिष्वेव अपामाहुति त्वात् च चतुर्थ्यामाहुतौ इति वाच्यम्, अतः प्रश्नोपसंहारयोः पञ्चम्यामिति श्रवणात् प्रथमाग्नावपि आप एव ग्राह्या इति समाधानार्थः । अनपः—अद्भ्योऽन्यतः । एतदेवेति । श्रद्धाशब्दस्यापि अप्त्वं दर्शयतीत्यर्थः । उपपत्तेरित्यस्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अग्नियोंमें भी जलका श्रवण नहीं है, ऐसी आशंका करके कहते हैं कि सोम, वृष्टि, अन्न और रेत ये चार आहुतियां जलरूप हैं, अतः उत्तर अग्नियोंमें तो जलका श्रवण है, परन्तु प्रथममें नहीं है, यह कहते हैं—“यदि नाम” इत्यादिसे । पांचों अग्नियोंमें जल आहुति है, ऐसा सिद्ध होनेपर जल पांचवीं आहुतिमें पुरुषात्मक हो, परन्तु वही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि प्रथम अग्निमें जलकी आहुति नहीं है, ऐसा शंकाका अर्थ है । इस प्रकार श्रद्धाशब्दसे जलका ग्रहण होनेपर प्रश्न, उत्तर और उपसंहारके एकार्थ होनेसे एकवाक्यता उपपन्न होती है, यदि श्रद्धाशब्दसे जलका ग्रहण न हो, तो चार अग्नियोंमें ही जल आहुतिरूप होनेसे ‘चतुर्थ्यामाहुतौ’

भाष्य

इति चोपसंहारभेदे देव दर्शयति । श्रद्धाकार्यं च सोमवृष्ट्यादि स्थूली-
भवदम्बहुलं लक्ष्यते । सा च श्रद्धाया अप्त्वे युक्तिः । कारणानुरूपं हि
कार्यं भवति । नच श्रद्धाख्यः प्रत्ययो मनसो जीवस्य वा धर्मः सन् धर्मिणो
निष्कृष्य होमायोपादातुं शक्यते पश्चादिभ्य इव हृदयादीनीत्याप एव
श्रद्धाशब्दा भवेयुः । श्रद्धाशब्दश्चाप्स्वपपद्यते, वैदिकप्रयोगदर्शनात् 'श्रद्धा
वा आपः' इति । तनुत्वं च श्रद्धासारूप्यं गच्छन्त्य आपो देहबीजभूता
इत्यतः श्रद्धाशब्दाः स्युः, यथा सिंहपराक्रमो नरः सिंहशब्दो भवति ।

भाष्यका अनुवाद

एकवाक्यता नहीं होगी । 'इति तु पञ्चम्या०' (ऐसे पांचवीं आहुतिमें जल
पुरुषात्मक होता है) ऐसा उपसंहार कर श्रुति यही लिखलाती है । और सोम,
वृष्टि आदि श्रद्धाके कार्य उत्तरोत्तर स्थूल होते हुए जलप्रचुर बिम्बाई देते हैं । यही
श्रद्धाको जल माननेमें युक्ति है । क्योंकि कारणके अनुरूप ही कार्य होता है ।
जैसे पशु आदिसे हृदय आदि पृथक् कर हवनके लिए ग्रहण किये जाते हैं वैसे
श्रद्धानामक प्रत्यय—विश्वास मन या जीवका धर्म होनेसे धर्मीसे पृथक् कर होमके
लिए नहीं ग्रहण किया जासकता, इसलिए श्रद्धाशब्द जलमें उपपन्न होता है, क्योंकि
'श्रद्धा वा आपः' (निश्चय, श्रद्धा जल है) ऐसा वैदिकप्रयोग देखनेमें आता है ।
श्रद्धाका तनुत्वरूप सादृश्य देहके बीजभूत जलमें है, इससे श्रद्धाशब्द उसमें
प्रयुक्त होता है । जैसे सिंहके समान पराक्रमवाले पुरुषके लिए सिंहशब्द प्रयुक्त

रत्नप्रभा

र्थान्तरमाह—श्रद्धाकार्यमिति । तस्याः श्रद्धाहुतेः सोमः सम्भवतीत्यादिना
श्रद्धासोमादीनां पूर्वपूर्वपरिणामत्वं श्रुतम्, ततो द्रवपरिणामत्वात् श्रद्धाया अप्त्वम्,
प्रत्ययात्मकमुख्यश्रद्धाया आहुतित्वायोगाच्चेत्यर्थः । श्रद्धाशब्दस्याऽप्सु सूक्ष्मत्वगुणेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

(चौथी आहुतिमें) ऐसा कहना युक्त हो, अतः प्रश्न और उपसंहार इन दोनोंमें 'पञ्चम्या-
माहुतौ' (पांचवीं आहुतिमें) ऐसा श्रवण होनेसे प्रथम अग्निमें भी जल ही ग्राह्य है, ऐसा
समाधानका अभिप्राय है । अनपः—जलभिन्नसे । एतदेवेति—यही, अर्थात् श्रद्धाशब्दका अर्थ
जल है, यही, [श्रुति] लिखलाती है, ऐसा अर्थ है । 'उपपत्तेः' इसका अन्य अर्थ कहते हैं—
"श्रद्धाकार्यम्" इत्यादिसे । 'तस्या श्रद्धाहुतेः०' (उस श्रद्धारूप आहुतिसे सोम उत्पन्न होता
है) इत्यादिसे श्रद्धा, सोम आदि पूर्व-पूर्वके परिणाम हैं, ऐसा श्रुतिमें कहा गया है, इसलिए
द्रवपरिणाम होनेसे श्रद्धा जल है, क्योंकि प्रत्ययात्मक जो मुख्यार्थमें श्रद्धा है, उसकी आहुति नहीं,

भाष्य

श्रद्धापूर्वककर्मसमवायाच्चाप्सु श्रद्धाशब्द उपपद्यते, मञ्चशब्द इव पुरुषेषु ।
श्रद्धाहेतुत्वाच्च श्रद्धाशब्दोपपत्तिः 'आपो हास्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय
कर्मणे' इति श्रुतेः ॥ ५ ॥

भाष्यका अनुवाद

होता है । श्रद्धापूर्वक कर्ममें जलका सम्बन्ध होनेसे भी श्रद्धाशब्द जलमें
उपपन्न होता है । जैसे पुरुषमें मञ्चशब्द उपपन्न होता है, वैसे ही । और श्रद्धाका
हेतु होनेसे भी श्रद्धाशब्दकी उपपत्ति (जलमें) होती है, क्योंकि 'आपो हास्मै०'
(निश्चय, इस यजमानके स्नान आदि पुण्य कर्मके लिए जल श्रद्धा उत्पन्न
करता है) ऐसी श्रुति है ॥ ५ ॥

रत्नप्रभा

वृत्तिमुक्त्वा लक्षणां वक्तुं श्रद्धाया अद्विरेककर्मयोगित्वं हेतुत्वं वा सम्बन्धमाह—
श्रद्धापूर्वकेति । अस्मै—यजमानाय स्नानार्थमापः श्रद्धां सन्नमन्ते जनयन्तीति
श्रुत्यर्थः ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हो सकती है, ऐसा अर्थ है । श्रद्धाशब्दकी जलमें सूक्ष्मत्वरूप गुण द्वारा वृत्ति कहकर
लक्षणा कहनेके लिए जलके साथ श्रद्धाका एककर्मयोगित्व अथवा हेतुत्वरूप संबन्ध कहते हैं—
“श्रद्धापूर्वक” इत्यादिसे । अस्मै—यजमानके लिए—अधिकारी पुरुषके लिए । स्नान आदिके
लिए जल श्रद्धा उत्पन्न करता है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

पदच्छेद—अश्रुतत्वात्, इति, चेत्, न, इष्टादिकारिणाम्, प्रतीतेः ।

पदार्थोक्ति—[श्रद्धाशब्दितानामपां पुरुषवचस्त्वेऽपि न तद्वेष्टितत्वं जीवस्य]

अश्रुतत्वात्—श्रुतिरहितत्वात्, इति चेन्न, [कुतः ? 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते
इत्यादिना वाक्यशेषेण] इष्टादिकारिणाम्—इष्टापूर्तकर्मकारिणाम् प्रतीतेः—
प्रत्ययात् ।

भाषार्थ—श्रद्धाशब्दित जलके पुरुषवचस्त्व होनेपर भी जलसे वेष्टित
जीव जाता है यह युक्त नहीं है, क्योंकि अप्—जल आदिके समान जीव श्रुत नहीं है
ऐसा यदि कहो, तो युक्त नहीं है, किससे ? 'अथ य इमे' इत्यादि वाक्य शेषसे
इष्टापूर्तकर्मकारियों की प्रतीति है ।

भाष्य

अथापि स्यात् प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां नामापः श्रद्धादिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषाकारं प्रतिपद्येरन्, न तु तत्संपरिष्वक्ता जीवा रंहेयुः, अश्रुतत्वात् । न ह्यत्रापामिव जीवानां श्रावयिता कश्चिच्छब्दोऽस्ति । तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इत्ययुक्तमिति चेत्, नैष दोषः; कुतः ? इष्टादिकारिणां प्रतीतेः 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति' (छा० ५।१०।६) इत्युपक्रम्येष्टादिकारिणां धूमादिना पितृयानेन यथा चन्द्रप्राप्तिं कथयति—'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा' (छा० ५।१०।४) इति,

भाष्यका अनुवाद

प्रश्न और प्रतिवचनसे पांचवीं आहुतिमें श्रद्धा आदिके क्रमसे जल पुरुषाकार प्राप्त करे, यह हो सकता है, परन्तु उस जलसे परिवेष्टित जीवोंका गमन प्रश्न और प्रतिवचनसे सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि यहां जलके समान जीवोंका श्रवण करानेवाला कोई शब्द नहीं है । इसलिए जीव संपरिष्वक्त—जलसे वेष्टित ही जाता है, यह युक्त नहीं है । यदि ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है । किससे ? इष्ट आदि कर्म करनेवालोंकी प्रतीति होनेसे । 'अथ य इमे०' (अब जो ये गृहस्थ ग्राममें इष्ट—अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्म, पूर्त, दत्त और इस प्रकारके अन्य धर्म करते हैं, वे धूमकी अभिमानी देवताको प्राप्त करते हैं) ऐसा उपक्रम करके 'आकाशाच्चन्द्रमसमेष०' (वे आकाशसे चन्द्रलोकमें जाते हैं, यह सोम राजा हैं) इत्यादिसे श्रुति इष्टादि करनेवालोंकी धूमादि पितृयाण मार्ग

रत्नप्रभा

अपां गतिमुपेत्य अद्भिः सह जीवानां गतिम् आक्षिप्य समाधत्ते—अथापीत्यादिना । बुलोकान्गौ श्रद्धाहुतेः सोमो राजा सम्भवतीत्युक्त्वा वाक्यशेषे धूमादिमार्गेण आकाशात् चन्द्रमसं प्राप्ता इष्टादिकारिणः 'एष सोमो राजा' इत्युक्ताः, अतः सोमराजशब्दसामान्यात् इष्टादिकारिणां जीवानां श्रद्धाशब्दिता अद्भिः सह गतिः इह श्रद्धाहुतिवाक्ये प्रतीयत इत्यर्थः । तेषां सूक्ष्माभिर्द्रव्यापूर्वरूपाभिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

जलकी गतिका स्वीकारकर जलके साथ जीवोंकी गतिका आक्षेप करके सामाधान करते हैं—“अथापि” इत्यादिसे । बुलोक अग्निमें श्रद्धारूप आहुतिसे सोम राजा होता है, ऐसा कहकर वाक्यशेषमें धूमादि मार्गके द्वारा आकाशसे चन्द्रलोकमें जो जाते हैं, उन इष्ट आदि करने वालोंकी ही 'सोम राजा' कहा गया है । इसलिए 'सोम राजा' यह शब्द समान होनेसे इष्टादि करनेवाले जीवोंकी श्रद्धाशब्दसे सूचित जलके साथ गति यहां श्रद्धाहुतिके वाक्यमें प्रतीत

भाष्य

त एवेहापि प्रतीयन्ते 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' (छा० ५।४।२) इति श्रुतिसामान्यात् । तेषां चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मसाधनभूता दधिपयःप्रभृतयो द्रवद्रव्य-भूयस्त्वात् प्रत्यक्षमेवापः सन्ति । ता आहवनीये हुताः सूक्ष्मा आहुत्योऽ-पूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्ठादिकारिण आश्रयन्ति । तेषां च शरीरं नैधनेन विधानेनान्त्येऽग्नाष्टृत्वजो जुह्वति 'असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा' इति । ततस्ताः श्रद्धापूर्वकर्मसमवायिन्य आहुतिमय्य आपोऽपूर्वरूपाः सत्यस्ता-निष्ठादिकारिणो जीवान्परिवेष्टयामुं लोकं फलदानाय नयन्तीति यत्तदत्र जुहोतिनाऽभिधीयते—'श्रद्धां जुह्वति' (बृ० ६।२।९) इति । तथा चाग्नि-

भाष्यका अनुवाद

से चन्द्रप्राप्ति कहती है । वे ही यहां भी प्रतीत होते हैं, क्योंकि 'तस्मिन्नेतस्मि-न्नग्नौ०' (इस अग्निमें देव श्रद्धाकी आहुति देते हैं और उस आहुतिसे सोम राजा उत्पन्न होता है । ऐसी सामान्य श्रुति है । और उन जीवोंके अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि कर्मोंके साधनभूत दधि, पय आदि प्रत्यक्ष ही जल है, क्योंकि उनमें द्रवद्रव्यका आधिक्य है । आहवनीयमें हवन की गई वे सूक्ष्म आहुतियां अपूर्वरूप होकर उन इष्टादि करनेवालोंका आश्रयण करती हैं । ऋत्विज उनके शरीरको मरणके विधानसे अन्त्य अग्निमें 'असौ स्वर्गाय०' (यह स्वर्गलोक प्राप्त करे,) ऐसा कहकर हवन करते हैं । फिर, इसके बाद श्रद्धापूर्वक कर्मके साथ सम्बद्ध आहुतिमय वे जल अपूर्वरूप होकर उन इष्टादि करनेवाले जीवोंको परि-वेष्टित करके फल देनेके लिए स्वर्गलोकमें ले जाते हैं, जो वे जाते हैं, उसी-लेजाने

रत्नप्रभा

पञ्चीकृताभिः अद्भिः सन्बन्धं वदन् सहगतिं विवृणोति—तेषाञ्चाग्निहोत्रेति । निधनं—मरणम् । तन्निमित्तकम् अन्त्येष्टिविधानम् । असौ—यजमानः, स्वर्गाय गच्छतु इति मन्त्रार्थः । हुतद्रव्यरूपाणाम् अपां गमने श्रुत्यन्तरमाह—तथा

रत्नप्रभाका अनुवाद

होती है, ऐसा अर्थ है । सूक्ष्म एवं अपूर्व द्रव्यरूप पञ्चीकृत जलके साथ उनके सम्बन्ध कहते हुए सहगतिका विवरण करते हैं—“तेषां चाग्निहोत्र” इत्यादिसे । निधन—मरण और तन्निमित्तक अन्त्येष्टिका विधान । असौ—यजमान स्वर्गमें जावे, ऐसा मन्त्रका अर्थ है । हवन किये गये द्रव्यरूप जलके गमनमें अन्य श्रुति कहते हैं—“तथा च” इत्यादिसे ।

भाष्य

होत्रे षट्प्रश्नीनिर्वचनरूपेण वाक्यशेषेण 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः' इत्येवमादिनाग्निहोत्राहुत्योः फलारम्भाय लोकान्तरप्राप्तिः प्रदर्शिता । तस्मादाहुतीमयीभिरद्भिः संपरिष्वक्ता जीवा रंहन्ति स्वकर्मफलोपभोगायेति श्लिष्यते ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

का 'श्रद्धां जुहति' (श्रद्धाकी आहुति देते हैं) इस श्रुतिमें 'जुहोति' (हवन करता है) शब्दसे अभिधान है इत्यादि । उसी प्रकार अग्निहोत्रमें छः प्रश्नोंके निर्वचनरूप वाक्यशेषमें 'ते वा एते' (वे ये दो आहुतियां हवनकी गई उत्क्रमण करती हैं) इत्यादिसे अग्निहोत्रकी दो आहुतियां फलारंभके लिए अन्य लोक प्राप्त करती हैं ऐसा दिखलाया गया है । इसलिए आहुतिमय जलसे परिवेष्टित जीव अपने कर्म फलके उपभोगके लिए जाते हैं, यह युक्त है ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

चेति । अग्निहोत्रप्रकरणे जनकेन याज्ञवल्क्यं प्रति 'नत्वेवैनयोः सायंप्रातराहुत्यो-स्त्वमुत्क्रान्तिं न गतिं न प्रतिष्ठां न तृप्तिं न पुनरावृत्तिं न लोकं प्रत्युत्थायिनं वेत्थ' इति षट् प्रश्नाः कृताः, तेषां निर्वचनमपि 'राज्ञैव ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः । तेऽन्तरिक्षद्वारा दिवं गच्छतः ते दिवमेव आहवनीयप्रतिष्ठां कुर्वते ते दिवं तर्पयतः ते ततः पुनरावर्तेते ततः पृथिव्यां पुरुषे योषिति च पुरुषरूपे-जोत्तिष्ठतः' इति वाक्यशेषेण कृतम् ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अग्निहोत्र प्रकरणमें जनकने याज्ञवल्क्यसे ६ प्रश्न किये हैं कि—'इन सायं और प्रातःकालकी आहुतियोंमें उत्क्रान्ति, गति, प्रतिष्ठा, तृप्ति, पुनरावृत्ति और उत्पन्न होनेवाला लोक क्या तुम नहीं जानते ?' राजाने उन प्रश्नोंका निर्वचन भी—'ये हवन की गई आहुतियां उत्क्रमण करती हैं, वे अन्तरिक्ष द्वारा आकाशमें जाती हैं, वे आहवनीय जो बुलोक है, उसमें ही प्रतिष्ठा करती हैं, बुलोकको तृप्त करती हैं, वहासे पीछे लौटती हैं और पीछे फिर पृथिवीमें पुरुष या स्त्रीमें आहुत हुई पुरुषरूपसे उत्थान करती हैं, ऐसे वाक्यशेषसे—कर दिया है ॥ ६ ॥

भाष्य

कथं पुनरिदमिष्टादिकारिणां स्वकर्मफलोपभोगाय रंहणं प्रतिज्ञायते, यावता तेषां धूमप्रतीकेन वर्त्मना चन्द्रमसमधिरूढानामन्नभावं दर्शयति—‘एष सोमो राजा तदेवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति’ (छा० ५।१०।४) इति । ‘ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वाप क्षीयस्वेत्येवमेतांस्तत्र भक्षयन्ति’ (बृ० ६।२।१६) इति च समानविषयं श्रुत्यन्तरम् । नच व्याघ्रादिभिरिव देवैर्भक्ष्यमाणानामुपभोगः संभवतीति । अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

परन्तु इष्टादि करनेवालोंका गमन अपने कर्मफलके उपभोगके लिए है, इस भांतिकी प्रतिज्ञा कैसे की जाती है ? क्योंकि धूमलक्षण मार्गसे चन्द्रमें जो आरूढ़ होते हैं, उनका अन्नभाव श्रुति दिखलाती है—‘एष सोमो राजा०’ (यह सोम राजा है, वह देवताओंका अन्न है उस चद्ररूप अन्नको देवता भक्षण करते हैं) इत्यादिसे । और ‘ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति०’ (वे चन्द्रको प्राप्त कर अन्न होते हैं जैसे यज्ञमें पुनः पुनः वृद्धि और क्षय करके सोमरूप (लता) राजाका ऋत्विज भक्षण करते हैं, वैसे ही इनका—इष्टादि करनेवालोंका वहां देवता भक्षण करते हैं) इस प्रकारकी समानविषयक अन्य श्रुति है । और व्याघ्र आदिके समान जो देवोंसे भक्ष्य हों, उनका उपभोग हो नहीं सकता । इसलिए उत्तर कहते हैं—

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ७ ॥

पदच्छेद—भाक्तम्, वा, अनात्मवित्त्वात्, तथा, हि, दर्शयति ।

पदार्थोक्ति—अस्मिन्सूत्रे वाशब्दः शङ्कानिरासार्थकः । [तेषामिष्टादिकारिणाम् अन्नत्वम्] भाक्तम्—गौणम् [न मुख्यम् अन्यथा ‘स्वर्गकामो यजेत इति श्रुतिव्याकोपः स्यात् अतः] अनात्मवित्त्वात्—आत्मज्ञानशून्यत्वात् [तेषां देवोपभोग्यत्वरूपमन्नत्वं वाच्यम्] हि—यतः तथा—तेन प्रकारेण [‘अथ योऽन्याम्’ इत्यादि श्रुतिः] दर्शयति—कथयति ।

भाषार्थ—इष्टादिकारियोंमें अन्नत्व अप्रधान है, मुख्य नहीं है, क्योंकि ‘स्वर्गकामो यजेत’ इस श्रुतिका विरोध होगा । इसलिए आत्मज्ञान न होनेसे देवोपभोग्यरूप अन्नत्व ही विवक्षित है, क्योंकि उसी प्रकार ‘अथ योऽन्याम्’ इत्यादि श्रुति कहती है ।

भाष्य

वाशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः । भाक्तमेषामन्नत्वं न मुख्यम्, मुख्ये ह्यन्नत्वे स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयकाधिकारश्रुतिरुपरुध्येत । चन्द्रमण्डले चेदिष्टादिकारिणामुपभोगो न स्यात्किमर्थमधिकारिण इष्टाद्यायासबहुलं कर्म कुर्युः । अन्नशब्दश्चोपभोगहेतुत्वसामान्यादनन्नेऽप्युपचर्यमाणो दृश्यते, यथा विशोऽन्नं राज्ञां पशवोऽन्नं विशामिति । तस्मादिष्टस्त्रीपुत्रमित्रभृत्यादिभिरिव

भाष्यका अनुवाद

वाशब्द कथित दोषकी व्यावृत्तिके लिए है । इनका—इष्टादि करनेवालोंका अन्नत्व गौण है, मुख्य हो, तो 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्गप्राप्ति चाहनेवाला यज्ञ करे) इस प्रकारकी अधिकारश्रुति उपरुद्ध हो जायगी । यदि इष्टादि करनेवालोंका चन्द्रमण्डलमें उपभोग न हो, तो अधिकारी जिनमें अधिक श्रम है, ऐसे इष्ट आदि कर्म ही क्यों करें ! और अन्नशब्द 'उपभोगहेतुत्व' इस सामान्य धर्मसे अनन्न—अन्नभिन्न वस्तुमें भी उपचरित देखनेमें आता है । जैसे वैश्य राजाके अन्न हैं, पशु वैश्यके अन्न हैं, ऐसा कहते हैं । इसलिए इष्ट स्त्री,

रत्नप्रभा

सम्प्रति उत्तरसूत्रव्यावर्त्यं शङ्कते—कथमित्यादिना । अत्र सोमाख्यचन्द्रस्यान्नत्वम् उक्तं नेष्टादिकारिणाम् इति भ्रान्तिनिरासार्थं श्रुत्यन्तरमाह—ते चन्द्रमिति । यथा यज्ञे चमसस्थं सोमम् ऋत्विजः आप्यायस्व इति क्रियावृत्तौ लोद्, पुनःपुनः आप्याय्य पुनः पुनः अपक्षय्य भक्षयन्ति, एवमेतान् इष्टादिकारिणः अन्नरूपान् भक्षयन्ति, देवा इत्यर्थः । अधिक्रियते पुरुषो विधिना सम्बध्यतेऽनेनेति अधिकारः—फलकामना । शास्त्रानर्थक्यवारणाय अन्नत्वं गौणमिति भावः । केन दोषेण तेषां देवभोग्यता इत्यत आह—अनात्मवित्वाच्चेति । यथा पशुर्भोग्यः, एवमज्ञः स मेदधीमान् देवानां भोग्य इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब उत्तर सूत्रमें निराकरणीय वस्तुकी शंका करते हैं—“कथम्” इत्यादिसे । यहां सोम संज्ञक चन्द्र अन्न है, ऐसा कहा गया है, इष्टादि करनेवाले अन्नरूप हैं, ऐसा नहीं कहा गया है, इस भ्रान्तिको दूर करनेके लिए अन्य श्रुति कहते हैं—“ते चन्द्रम्” इत्यादिसे । जैसे यज्ञमें चमसमें स्थित सोमका ['आप्यायस्व' यह क्रियाव्यापारमें लोद् लकार है] ऋत्विज बार बार वृद्धि और क्षय करके भक्षण करते हैं, वैसे ही इष्टादि करनेवाले अन्नरूप हैं, उनका देव भक्षण करते हैं, ऐसा अर्थ है । जिसके द्वारा पुरुष विधिसे अधिकृत अर्थात् संबद्ध होता

भाष्य

गुणभावोपगतैरिष्टादिकारिभिर्यत्सुखविहरणं देवानां तदेवैषां भक्षणमभिप्रेतं न मोदकादिवर्चवर्णं निगरणं वा । 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येत-
देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छा० ३।६।१) इति च देवानां चर्वणादिव्यापारं
वारयति । तेषां चेष्टादिकारिणां देवान्प्रति गुणभावोपगतानामप्युपभोग
उपपद्यते राजोपजीविनामिव परिजनानाम्, अनात्मवित्त्वाच्चेष्टादिकारिणां
देवोपभोग्यभाव उपपद्यते । तथाहि श्रुतिरनात्मविदां देवोपभोग्यतां दर्शयति-
'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा
पशुरेवं स देवानाम्' (बृ० १।४।१०) इति । स चास्मिन्नपि लोक इष्टादिभिः
कर्मभिः प्रीणयन्पशुवद्देवानामुपकरोत्यमुष्मिन्नपि लोके तदुपजीवी तदादिष्टं
फलमुपभुञ्जानः पशुवद्देवानामुपकरोतीति गम्यते ।

भाष्यका अनुवाद

पुत्र, मित्र आदिके समान गुणभावको प्राप्त हुए इष्ट आदि करनेवालोंके द्वारा
जा देवताओंका सुखविहरण है, वही इनका भक्षण यहां अभिप्रेत है, मोदक
आदिके समान चर्वण—चबाना, या निगरण—निगल जाना अभिप्रेत नहीं है ।
'न ह वै देवाः०' (निश्चय, देव कुछ खाते और पीते नहीं हैं, इसी सूर्यमण्डलमें
रोहितरूप अमृतको देखकर वे तृप्त हो जाते हैं) यह श्रुति देवोंके चर्वण आदि
व्यापारका निषेध करती है । और देवोंके प्रति गुणभावको प्राप्त हुए इन इष्टादि
करनेवालोंका भी राजाके उपजीवी परिजनोंके समान उपभोग उपपन्न होता है
और आत्मज्ञान न होनेसे इष्टादि करनेवाले देवताओंके उपभोग्यरूप हैं, यह उपपन्न
भी है । क्योंकि—'अथ योऽन्यां देवता०' (जो कोई [अन्नद्वयित्] अपनेसे
अन्य देवताकी उपासना करता है—'वह (देव) अन्य है, मैं अन्य हूँ ऐसा' वह
तत्त्वको नहीं जानता, जैसे पशु [वाहन, दोहन आदि उपकरणोंसे उपभुक्त होता
है] वैसे ही वह देवोंका [उपभोग्य होता है]) यह श्रुति अनात्मवेत्ताओंकी
देवोपभोग्यता दिखलाती है । इस लोकमें इष्टादि कर्मोंसे देवोंको प्रसन्न करता
हुआ वह पशुके समान देवोंका उपकारक होता है, और परलोकमें भी उनका

रत्नप्रभा

आत्मशब्दस्य मुख्यत्वबलेन सूत्रांशं व्याख्याय प्रकृतपञ्चाग्नयः सूत्रकृता

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, वह अधिकार—फलकामना है । शास्त्रकी अनर्थकता निवारण करनेके लिए अज्ञत्व गौण

भाष्य

अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयतीत्यस्यापरा व्याख्या—अनात्मविदो ह्येते केवलकर्मिण इष्टादिकारिणो न ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायिनः । पञ्चाग्नि-विद्यामिहात्मविद्येत्युपचरन्ति प्रकरणात्, पञ्चाग्निविज्ञानविहीनत्वाच्चेद-मिष्टादिकारिणां गुणवादेनात्मत्वमुद्भाव्यते पञ्चाग्निविज्ञानप्रशंसायै । पञ्चाग्नि-विद्या हीह विधित्सता, वाक्यतात्पर्यावगमात् । तथाहि श्रुत्यन्तरं चन्द्रमण्डले भोगसद्भावं दर्शयति—‘स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते’ (प्र० ५।४) इति । तथान्यदपि श्रुत्यन्तरम् ‘अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्व लोके आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः

भाष्यका अनुवाद

उपजीवी होकर उनसे आदिष्ट फलका उपभोग करता हुआ पशुवत् देवोंका उपकारक होता है, ऐसा समझा जाता है ।

‘अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति’ इसकी दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—केवल कर्म—इष्टादि करनेवाले वे निश्चय, अनात्मवेत्ता हैं । ज्ञान और कर्मका समुच्चय करनेवाले अनात्मवेत्ता नहीं हैं । प्रकरणसे पञ्चाग्निविद्या ही यहां उपचार से आत्मविद्यारूपसे कही गई है । पञ्चाग्निविज्ञानसे रहित होनेके कारण इष्टादि करनेवाले देवोंके अन्न हैं, ऐसा पञ्चाग्निविद्याकी प्रशंसाके लिए ही गुणवादसे कहा गया है । निश्चय यहां पञ्चाग्निविद्याका ही विधान करना अभीष्ट है, क्योंकि वाक्यका तात्पर्य ऐसा समझा जाता है, अन्य श्रुति भी ‘स सोम-लोके०’ (वह सोम लोकमें विभूतिका अनुभव करके फिर लौट आता है) इत्यादिसे चन्द्रमण्डलमें भोगका सद्भाव दिखलाती है । वसी प्रकार ‘अथ ये०’ (लोकविजयी पितरोंका जो शतगुण—सौ गुना आनन्द है वह गन्धर्वलोकके एक आनन्दके बराबर है, और जो गन्धर्वलोकमें सौ गुना आनन्द है वह

रत्नप्रभा

आत्मत्वेन उपचरिता इति व्याख्यान्तरमाह—अनात्मेत्यादिना । विद्यास्तुत्यर्थम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसा भाव है । किंस दोषसे वे देवोंके भोग्य हैं, इसे कहते हैं—“अनात्मवित्त्वाच्च” इत्यादिसे । अनात्मवित्—आत्मज्ञानरहित होनेसे ही वह अन्न भेदबुद्धिवाला पशुके समान देवोंका भोग्य है, ऐसा अभिप्राय है । आत्म शब्दकी मुख्यताके बलसे सूत्रांशकी व्याख्या करके—प्रकृत पांच अग्निनां सूत्रमें पठित आत्मत्वसे उपचरित हैं, ऐसी दूसरी व्याख्या कहते

भाष्य

कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते' (बृ० ४।३।३३)
इतीष्टादिकारिणां देवैः सह संवसतां भोगप्राप्तिं दर्शयति । एवं भाक्तत्वा-
दन्नभाववचनस्येष्टादिकारिणोऽत्र जीवा रंहन्तीति प्रतीयते । तस्माद्व्रंहति
संपरिष्वक्त इति युक्तमेवोक्तम् ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

कर्मदेवोंके एक आनन्दके बराबर है, जो कर्मसे देवपदवीको प्राप्त होते हैं)
यह दूसरी भुक्ति भी इष्टादि करनेवाले जो देवोंके साथ बसते हैं उनकी
भोगप्राप्ति दिखलाती है । इत्थं प्रकार अन्नभाववचनके गौण होनेसे इष्टादि
करनेवाले जीव वहां जाते हैं, ऐसा प्रतीत होता है । इसलिये 'रंहति संपरिष्वक्तः'
(जीव परिवेष्टित जाता है) यह ठीक ही कहा गया है ॥७॥

रत्नप्रभा

अज्ञत्वं न मुख्यम् इत्यत्र श्रुत्यन्तरार्थं सूत्रशेषं व्याचष्टे—तथाहीति । एवं
गतिपर्यालोचनया वैराग्यमिति सिद्धम् ॥ ७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—“अनात्म” इत्यादिसे । विद्याकी स्तुतिके लिए अज्ञत्व मुख्य नहीं है, इसमें अन्य श्रुतिके
अर्थरूपसे सूत्रके अन्तिम अंशका व्याख्यान करते हैं—“तथाहि” इत्यादिसे । इस प्रकार गतिके
पर्यालोचनसे वैराग्य होता है, यह सिद्ध है ॥७॥



[२ कृतात्ययाधिकरण सू० ८-११]

स्वर्गविरोही क्षीणानुशयः सानुशयोऽथवा ।

यावत्संपातवचनात् क्षीणानुशय इष्यते ॥ १ ॥

जातमात्रस्य भोगित्वादैकभव्ये विरोधतः ।

चरणश्रुतितः सानुशयः कर्मान्तरैरयम्* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—स्वर्गमें गया हुआ जीव निरनुशय आता है अथवा सानुशय आता है ?

पूर्वपक्ष—निरनुशय आता है, क्योंकि यावत्सम्पातका वचन है ।

सिद्धान्त—सानुशय जीव आता है, क्योंकि जन्म लेते ही बालकको सुख-दुःखका अनुभव होता है और 'एक ही जन्ममें सब कर्मानुशय का भोग होता है', इस मतमें विरोध है एवं चरणकी श्रुति है ।

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥

पदच्छेद—कृतात्यये, अनुशयवान्, दृष्टस्मृतिभ्याम्, यथेतम्, अनेवम्, च ।

पदार्थोक्ति—कृतात्यये—कृतस्य स्वर्गप्रापककर्मसमूहस्य [भोगेन]

अत्यये—विनाशे, सति अनुशयवान्—आमुष्मिकफलप्रापककर्मातिरिक्तकर्मवान् [अवरोहति, कुतः ?] दृष्टस्मृतिभ्याम्—दृष्टम्—'तद्य इह रमणीयचरणा' इत्यादिकं श्रुतिरूपं प्रत्यक्षं शास्त्रम्, तथा 'प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्ट-देशकाल०' इत्यादि स्मृतिः, ताभ्यां हेतुभ्याम् । [ते च येन मार्गेण चन्द्रलोकमारूढास्तेनैवावरोहन्ति आहोस्वित्तद्विपरीतेनेत्याकाङ्क्षायामाह—] यथेतम् अनेवं च—यथा इतम् येन क्रमेण धूमादिमार्गद्वारा गतं तद्विपरीतेन कथयिष्यमाणाभ्रादिमार्गेण च अवरोहन्ति इति सूत्रतात्पर्यम् ।

भाषार्थ—स्वर्गके लिए किये हुए कर्मोंके उपभोगके अनन्तर उस कर्मसे अतिरिक्त कर्म युक्त ही जीव इस लोकमें आता है, क्योंकि 'तद्य इह रमणीयचरणा' और 'प्रेत्य कर्मफलमनुभूय' इत्यादि श्रुति और स्मृति प्रमाणभूत हैं । और जिस धूमादि मार्गसे वे गये हों उससे और उससे विपरीत वक्ष्यमाण अभ्रादि मार्गद्वारा इस लोकमें आते हैं ।

* भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—स्वर्गका उपभोग करके आनेवाला जीव निरनुशय ही इस संसारमें आता है । अनुशय शब्दका अर्थ 'जीवमनुशेते' इस प्रकार की व्युत्पत्तिसे कर्मका बचा हुआ

भाष्य

इष्टादिकारिणां धूमादिना वर्त्मना चन्द्रमण्डलमधिरूढानां भुक्तभोगानां ततः प्रत्यवरोह आम्नायते—‘तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम् (छा० ५।१०।५) इत्यारभ्य यावत् ‘रमणीयचरणा ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते कपूयचरणाः श्वादियोनिम्’ इति । तत्रेदं विचार्यते—

भाष्यका अनुवाद

धूमादि मार्गसे चन्द्रमण्डलमें आरूढ़ इष्ट आदि करनेवाले भुक्तभोगियोंका वहांसे प्रत्यवरोहण (चन्द्रमण्डलसे पीछे लौटना), श्रुतिमें कहा गया है— ‘तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वा०’ (उसमें संपातपर्यन्त रहकर जिस मार्गसे वहां गया है, उसी मार्गसे पुनः निवृत्त होता है) यहांसे प्रारम्भ करके ‘रमणीयचरणा०’ (जिनका रमणीय आचरण है, वे ब्राह्मण आदि योनि प्राप्त करते हैं और जिनका आचरण निकृष्ट है, वे श्वान आदि योनि प्राप्त करते हैं) यहां तक । उसमें यह

रत्नप्रभा

इदानीं गत्यन्तरभाविनीमागतिं निरूपयति—कृतात्यय इति । भोक्तव्यकर्म-समाप्त्यानन्तर्यम् अथशब्दार्थः । यथेतमित्यारभ्य श्वादियोनिमित्यन्तं वाक्यं यावत्तावदाम्नायत इति योजना । अत्र यावत्सम्पातमिति विशेषणात् रमणीयचरणा इति वाक्याच्च संशयमाह—तत्रेति । अनुशयः—कर्म । अत्र पूर्वपक्षे कर्माभावेना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब गतिके अनन्तर होनेवाला आगतिका निरूपण करते हैं—“कृतात्यये” इत्यादिसे । भोक्तव्य कर्मकी समाप्तिके अनन्तर—यह श्रुतिके एकदेश अथशब्दका अर्थ है । ‘यथेतम्’ यहांसे लेकर ‘श्वादियोनिम्’ इस वाक्यतक प्रत्यवरोह—स्वर्गसे आना कहा गया है, यह योजना है । यहांपर ‘यावत्संपातम्’ (कृत कर्मकी समाप्ति पर्यन्त स्वर्गलोकमें रहकर) इस विशेषणसे और कुछ भाग, इसलिए उक्त अर्थका (जीव निरनुशय आता है) संप्राप्तिका श्रुति भी है—‘यावत्सम्पातम्’ इत्यादि । इससे कर्मके शेषसे रहित ही जीव आता है, यह सिद्ध है ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त—स्वर्गके लिए अनुष्ठित कर्मोंका सर्वथा उपभोग होनेपर भी संचित कर्म जो कि अनुपभुक्त हैं, वे रहते हैं, अन्यथा तत्क्षणमें उत्पन्न बालकको इस जन्ममें धर्माधर्मके अनुष्ठान न होनेसे सुख-दुःखका अनुभव नहीं होगा । किसीका मत है—एक जन्ममें अनुष्ठित कर्मसमूह आगेके जन्ममें उपभोगसे क्षाण होता है, यह युक्त नहीं है, क्योंकि इन्द्र आदि पदके प्रापक अश्वमेध आदि और वराह आदिके प्रापक पापकर्मोंके एक क्षणमें उपभोगका असम्भव होनेसे ‘ऐकभविकः कर्मानुशयः’ इस मतमें विरोध है । यावत्सम्पातशब्द तो केवल स्वर्गको देनेवाले कर्मका वाचक है, अन्यका नहीं है, श्रुति भी स्वर्गसे आनेके बाद पञ्चमी आहुतिमें शरीरग्रहण करनेवाले जीवोंके पुण्य और पापका सञ्ज्ञाव प्रतिपादन करती है—‘तथ इह रमणीयचरणा’ इत्यादिसे ।

भाष्य

किं निरनुशया भुक्तकृत्स्नकर्माणोऽवरोहन्त्याहोस्वित्सानुशया इति ?

किं तावत्प्राप्तम् ? निरनुशया इति । कुतः ? यावत्संपातमिति विशेषणात् । संपातशब्देनात्र कर्माशय उच्यते—संपतन्त्यनेनास्माल्लोकादमुं लोकं फलोपभोगायेति, यावत्संपातमुषित्वेति च कृत्स्नस्य तस्य कृतस्य तत्रैव भुक्ततां दर्शयति । 'तेषां यदा तत्पर्यवैति' (बृ० ६।२।१६) इति च श्रुत्यन्तरेणैष एवार्थः प्रदर्श्यते । स्यादेतत्—यावदमुष्मिंल्लोक उपभोक्तव्यं कर्म तावदु-

भाष्यका अनुवाद

विचार किया जाता है कि—जिन्होंने सब कर्मोंका उपभोग कर लिया है, वे अनुशयरहित अवरोहण करते हैं या अनुशयसहित ?

पूर्वपक्षी—तब क्या प्राप्त होता है ? अनुशयरहित अवरोहण करते हैं । किससे ? 'यावत् संपातम्' (संपातपर्यन्त) ऐसा विशेषण होनेसे । संपातशब्दसे यहां कर्माशय कहा गया है—क्योंकि इस लोकसे परलोकमें फलके उपभोगके लिए जीव इसकी (कर्मकी) सहायतासे संपतन्ति—गमन करते हैं । और 'यावत्संपातमुषित्वा' (संपातपर्यन्त रहकर) यह श्रुति किये गये उसके सब कर्मोंका वहीं उपभोग होता है, ऐसा दिखलाती है । और 'तेषां यदा पर्यवैति' (जब उन कर्म करने-वालोंका वह [यज्ञ, दानादिलक्षण सोमलोकप्रापक कर्म] परिक्षीण हो जाता है) इस दूसरी श्रुतिसे भी यही अर्थ दिखलाया गया है । यदि कहो कि जब

रत्नप्रभा

गतेः अनियमात् वैराग्यादार्ह्यं, सिद्धान्ते कर्मसत्त्वेनागतिनियमाद् वैराग्यदार्ह्यमिति भेदः । तेषाम् इष्टादिकारिणां यदा तत् कर्म पर्यवैति—विपरिक्षीणं भवति, तदा पुनरावर्तन्त इति श्रुत्यन्तरेणापि कृत्स्नकर्मणः चन्द्रलोके भुक्तत्वमुच्यते इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

'रमणीयचरणाः' इत्यादि वाक्यसे संशय कहते हैं—“तत्र” इत्यादिसे । अनुशय—कर्म । यहां पूर्वपक्षमें कर्मका अभाव होनेसे आगतिमें अनियम है, इसलिए वैराग्यका शैथिल्य है, सिद्धान्तमें कर्मकी सत्ता होनेसे आगतिमें नियम है, इसलिए वैराग्यकी दृढ़ता है, ऐसा फलभेद है । उनका अर्थात् इष्टादि कर्म करनेवालोंका जब वह कर्म पर्यवैति—विपरिक्षीण होता है तब वे पीछे लौटते हैं, इस प्रकार अन्य श्रुतिसे भी सब कर्मका चन्द्रलोकमें भोग होता है, ऐसा कहा गया है, यह अर्थ है । यावत्पदका संकोच, ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरी श्रुतिसे विरोध होता है,

भाष्य

पशुक्तमिति कल्पयिष्यामीति । नैवं कल्पयितुं शक्यते, यत्किंचेत्यन्यत्र परामर्शात् । 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् । तस्माच्छोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४।४।६) इति ह्यपरा श्रुतिर्यत्किंचेत्यविशेषपरामर्शेन कृत्स्नस्येह कृतस्य कर्मणस्तत्र क्षयिततां दर्शयति । अपि च प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकम्, प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्याभिव्यक्त्यनुपपत्तेः । तच्चाविशेषाद्यावत्किंचिदनारब्धफलं तस्य सर्वस्याभिव्यञ्जकम्, नहि साधारणे निमित्ते नैमित्तिकमसाधारणं भवितुमर्हति । न ह्यविशिष्टे प्रदीपसंनिधौ घटोऽभिव्यज्यते न पट इत्युपपद्यते । तस्मान्निरनुशया अवरोहन्तीति ।

भाष्यका अनुवाद

तक इस लोकमें उपभोग करनेके योग्य कर्म हैं तबतक जीव उनका उपभोग करता है, ऐसी मैं कल्पना करूंगा, तो ऐसी कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि 'यत्किंच' (जो कुछ) ऐसा अन्यत्र परामर्श है । क्योंकि 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य०' (यह नर इस लोकमें जो कुछ कर्म करता है उसका अन्त-फल परलोकमें प्राप्त करके उस लोकसे यहांपर फिर कर्म करनेके लिए लौट आता है) यह दूसरी श्रुति 'यत्किंच' (जो कुछ) ऐसे अविशेषके परामर्शसे यहां किये गये सब कर्मोंका वहां क्षय होता है, ऐसा दिखलाती है । और मरण भी अनारब्ध फलवाले कर्मोंका अभिव्यञ्जक है (जिसका फल आरब्ध नहीं हुआ है, ऐसे कर्मका अभिव्यञ्जक है), क्योंकि मरणसे पहले जिसका फल आरब्ध हुआ है, ऐसे कर्मसे प्रतिबद्ध हुए की अभिव्यक्ति उपपन्न नहीं है । और विशेष न होनेसे वह मरण जिस किसी कर्मका फल आरब्ध नहीं हुआ है, उस सबका अभिव्यञ्जक है, क्योंकि साधारण निमित्त रहने पर नैमित्तिक असाधारण हो, यह नहीं हो सकता । निश्चय, प्रदीपकी अवशिष्ट संनिधिमें घट अभिव्यक्त होता है, पट अभिव्यक्त नहीं होता, यह उपपन्न नहीं है । इससे जीव अनुशयरहित ही अवरोहण करते हैं ।

रत्नप्रभा

यावत्पदसङ्कोचो न युक्तः, श्रुत्यन्तरविरोधात् इत्याह—नैवमिति । अयं नरः यत्किञ्चित् इह लोके कर्म करोति तस्य अन्तं फलं--परलोके प्राप्य कर्मार्थं पुनराया-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—“नैवम्” इत्यादिसे । यह नर जो कुछ कर्म इस लोकमें करता है, उसका अन्त-फल परलोकमें प्राप्तकर कर्मके लिए फिर इस लोकमें पुनरागमन करता है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है ।

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—कृतात्ययेऽनुशयवानिति । येन कर्मवृन्देन चन्द्र-
मसमारूढाः फलोपभोगाय तस्मिन्नुपभोगेन क्षयिते तेषां यदम्भयं शरीरं
चन्द्रमस्युपभोगायारब्धं तदुपभोगक्षयदर्शनशोकाग्निसंपर्कात्प्रविलीयते स-
वितृकिरणसंपर्कादिव हिमकरकाः हुतभुगर्चिःसंपर्कादिव च घृतकाठि-
न्यम् । ततः कृतात्यये—कृतस्येष्टादेः कर्मणः फलोपभोगेनोपक्षये सति
सानुशया एवेममवरोहन्ति । केन हेतुना ? दृष्टस्मृतिभ्यामित्याह । तथाहि
प्रत्यक्षा श्रुतिः सानुशयानामवरोहं दर्शयति—‘तद्य इह रमणीयचरणा
अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्त्राह्वणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—‘कृतात्ययेऽनुशयवान्०’
(कर्मके क्षय होनेपर अनुशयवाला) । जिस कर्मसमूहसे फलके उपभोगके लिए
चन्द्रमें आरूढ हुए हैं, उस कर्मसमूहके उपभोगसे क्षय होनेपर उनका जो
जलमय शरीर चन्द्रलोकमें उपभोगके लिए आरब्ध हुआ है, वह उपभोगके
क्षयदर्शनसे उत्पन्न शोकाग्निके सम्पर्कसे विलीन हो जाता है । जिस प्रकार
सूर्यकी किरणोंके सम्पर्कसे हिम और करक विलीन हो जाते हैं और अग्निकी
ज्वालाके सम्पर्कसे घृतका काठिन्य विलीन हो जाता है, वसी प्रकार । इसलिए
कृतात्यये—अर्थात् किये गये इष्ट आदि कर्मके फलोपभोगसे उपक्षय होनेपर
अनुशयसहित ही जीव इस लोकमें अवरोहण करते हैं । किस हेतुसे ? दृष्ट—श्रुति

रत्नप्रभा

तीति श्रुत्यर्थः । कर्माभावे श्रुतिमुक्त्वा युक्तिमाह—अपि चेति । अभि-
व्यक्तिः—फलोन्मुखता । मरणेनाभिव्यक्तस्य सर्वस्य कर्मणः परलोकभोगस्य
अवश्यम्भावात् कर्माभाव इत्यर्थः । चरणाख्यशीलमात्रात् अवरोह इति प्राप्ते
सिद्धान्तप्रतिज्ञां व्याचष्टे—येनेत्यादिना । ‘तत्’ तत्राऽवरोहतां जीवानां मध्ये ये
केचिद् इह कर्मभूमौ रमणीयचरणाः पुण्यकर्मणः पुण्ययोनिभाज इति यद्
तत् अभ्याशो ह—अवश्यं हीत्यर्थः । कपूयम्—पापम् । दृष्टशब्दस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मके अभावमें श्रुति कहकर युक्ति कहते हैं—“अपि च” इत्यादिसे । अभिव्यक्तिः—फलोन्मुखता ।
मरणसे अभिव्यक्त सब कर्मोंका परलोकमें भोग होना अनिवार्य है, इसलिए कर्मका अभाव है,
ऐसा अर्थ है । चरण—शीलमात्रसे अवरोह होता है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्तप्रतिज्ञाका

भाष्य

वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमा-
पद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा' (छा० ५।१०।७)
इति । चरणशब्देनानुशयः सूच्यत इति वर्णयिष्यति । दृष्टश्चायं जन्मनैव
प्रतिप्राण्युच्चावचरूप उपभोगः प्रविभज्यमान आकस्मिकत्वासम्भवादनुशय-
सद्भावं सूचयति, अभ्युदयप्रत्यवाययोः सुकृतदुष्कृतहेतुत्वस्य सामान्यतः
शास्त्रेणावगमितत्वात् । स्मृतिरपि—'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य
कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तचित्तसुख-

भाष्यका अनुवाद

और स्मृतिसे, ऐसा कहते हैं । क्योंकि श्रुति प्रत्यक्ष अनुशयसहित जीवोंका
अवरोहण दिखलाती है—'तदय इह रमणीयचरणा' (उनमें जो यहां पुण्य कर्म
करनेवाले हैं; वे अवश्य ही रमणीययोनि—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि या वैश्ययोनि
प्राप्त करते हैं और जो पाप करनेवाले हैं वे अवश्य ही पापयोनि—श्वयोनि, सूकर-
योनि या चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं) इस प्रकार । चरणशब्दसे अनुशय सूचित
होता है, ऐसा वर्णन करेंगे । और जन्मसे ही प्रत्येक प्राणीमें भिन्न-भिन्न प्रकारका
उपभोग विभक्त हुआ देखनेमें आता है । वह आकस्मिकत्वके असंभवसे अनु-
शयके सद्भाव—अस्तित्वका सूचन करता है, क्योंकि अभ्युदय और दुःखका
सुकृत और दुष्कृत हेतु है, ऐसा सामान्य रीतिसे शास्त्रद्वारा समझा जाता है ।
'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः' (वर्ण और आश्रमवाले मरणके पीछे अपने

रत्नप्रभा

श्रुतमर्थमुक्त्वा अर्थान्तरमाह—दृष्टश्चेति । 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा
भवति पापः पापेन' इत्यादिशास्त्रेण सुखदुःखयोधर्माधर्म हेतुकत्व-
मवगतम् । ततश्च जन्मारभ्य दृष्टो भोगः कर्महेतुकः, भोगत्वात्,
स्वर्गभोगवत्, इति अनुशयसिद्धिः । विपक्षे च हेत्वभावाद् भोगस्य आक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्याख्यान करते हैं—'येन' इत्यादिसे । तत्—वहां अवरोहण करनेवाले जीवोंमें जो कोई यहां
कर्मभूमिमें पुण्य कर्मवाले आते हैं वे रमणीययोनि प्राप्त करते हैं, यह जो (रमणीय योनि) प्राप्त
करना है वह अवश्य ही प्राप्त होता है । कपूय—पाप । दृष्ट शब्दका दृष्ट—श्रुत, ऐसा अर्थ कहकर
अन्य अर्थ कहते हैं—'दृष्टश्च' इत्यादिसे । 'पुण्यो वै' (निश्चय, पुण्यकर्मसे सुखशाली और
पाप कर्मसे पापः—दुःखी होता है) इत्यादि शास्त्रसे सुख और दुःखके धर्म और अधर्म हेतु हैं,
ऐसा अवगत होता है । इसलिए जन्मसे लेकर देखा गया भोग कर्महेतुक—कर्म जिसका

भाष्य

मेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' इति सानुशयानामेवावरोहं दर्शयति । कः पुनरनुशयो नामेति—केचित्तावदाहुः—स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषः कश्चिदनुशयो नाम भाण्डानुसारिस्नेहवत्—यथाहि स्नेहभाण्डं रिच्यमानं न सर्वात्मना रिच्यते भाण्डानुसार्येव कश्चित्स्नेहशेषोऽवतिष्ठते तथाऽनुशयोऽ-

भाष्यका अनुवाद

कर्ममें स्थित हुए कर्मफलका अनुभव करके उससे शेषकर्म द्वारा—अनुशयसंज्ञक कर्म द्वारा विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, ज्ञान, आचार, वित्त, सुख और मेधावाले होकर जन्म प्राप्त करते हैं) यह स्मृति भी अनुशयसहित जीवोंका ही अवरोहण दिखलाती है । परन्तु वह अनुशय क्या है ? कितने तो 'भाण्डके अनुसारी स्नेह-तैलके समान स्वर्गके लिए किया गया कर्म जिसका

रत्नप्रभा

स्मिकत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । स्मृतौ आश्रमाः—आश्रमिणः, प्रेत्य—मृत्वा लोकान्तरे कर्मफलं भुक्त्वा ततः शेषेण—भुक्तादन्येन कर्मणा अनुशयाख्येन पुनः जन्म प्रतिपद्यन्ते इति सम्बन्धः । विशिष्टाः देशादयो मेधान्ताः दश गुणाः येषु ते तथोक्ताः । श्रुतं—ज्ञानम् । वृत्तम्—आचारः । स्वाभिमतानुशयं वक्तुं पृच्छति—कः पुनरिति । कृतस्य कर्मणः स्वर्गे भोगे सति भुक्तस्य कर्मणो लेशोऽनुशयः, तद्वानवरोहति, भाण्डे स्नेहलेशस्य दृष्टत्वात् । ततः शेषेणेति स्मृतेश्च इति एकदेशिव्याख्याम् आह—केचिदित्यादिना । रिच्यमानं—स्नेहेन वियुज्यमानम् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

हेतु है, ऐसा है, भोग होनेसे, स्वर्गभोगके समान, इस प्रकार अनुशय सिद्ध होता है, और विपक्षमें कर्मके अभावमें भोग होनेपर हेतु—कर्म न होनेसे भोगके आकस्मिक होनेका प्रसंग आता है, ऐसा अर्थ है । स्मृतिमें आश्रमाः—आश्रममें रहनेवाले । प्रेत्य—मरण पाकर, ततः शेषेण—भुक्तसे अन्य अनुशयसंज्ञक कर्म द्वारा वर्ण और आश्रमवाले मरण पाकर लोकान्तरमें कर्मफलका उपभोग कर भुक्तसे अन्य अनुशयनामक कर्म द्वारा पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं, ऐसा सम्बन्ध है । विशिष्ट देश आदि मेधान्त दश गुण जिनमें हैं, वे तथोक्त—'विशिष्ट देश मेधसः' हैं । श्रुत—ज्ञान, वृत्त—आचार । स्वाभिमत अनुशयका अर्थ करनेके लिए पूछते हैं—“कः पुनः” इत्यादिसे । किये गये कर्मका स्वर्गमें भोग होनेपर भुक्त कर्मका जो लेश वह अनुशय है और उस अनुशयसे युक्त जीव पृथिवीपर अवरोहण करता है, क्योंकि भाण्डमें स्नेहलेश देखनेमें आता है और 'ततःशेषेण' ऐसी स्मृति है, इस प्रकार एकदेशीकी व्याख्या कहते हैं—“केचित्” इत्यादिसे । रिच्यमान—तेलसे वियुज्यमान । परन्तु कर्म तो भोगसे

भाष्य

पीति । ननु कार्यविरोधित्वाददृष्टस्य न भुक्तफलस्यावशेषावस्थानं न्याय्यम् । नायं दोषः । नहि सर्वात्मना भुक्तफलत्वं कर्मणः प्रतिजानीमहे । ननु निरवशेषकर्मफलोपभोगाय चन्द्रमण्डलमारूढः ? बाढम् ; तथापि स्वल्पकर्मावशेषमात्रेण तत्रावस्थातुं न लभ्यते । यथा किल कश्चित्सेवकः सकलैः सेवोपकरणै राजकुलमुपसृतमश्विरप्रवासात्परिक्षीणबहूपकरणशूत्रपादुकादिमात्रावशेषो न राजकुलेऽवस्थातुं शक्नोति, एवमनुशयमात्रपरिग्रहो न चन्द्र-

भाष्यका अनुवाद

फलभोग किया गया है, उसका जो कुछ अवशेष रहता है, वह अनुशय है । जैसे तेहसे भरे हुए भाण्डको खाली करनेपर भी सर्वात्मना वह खाली नहीं होता, भाण्डका अनुसारी कुछ स्नेह अवश्य ही अवशिष्ट रह जाता है, वैसे अनुशय भी जीवके साथ रह जाता है'—इस प्रकार कहते हैं । परन्तु अदृष्टके कार्य-फल विरोधी होनेसे जिसका फलभोग किया गया है उस कर्मका अवशेष रहना, युक्त नहीं है, यह दोष नहीं है, क्योंकि कर्म सब तरहसे भुक्तफल हैं, ऐसी प्रतीक्षा हम नहीं करते । परन्तु निरवशेष कर्मके फलोपभोगके लिए जीव चन्द्रमण्डलमें आरूढ हुआ है ? सत्य है, तो भी कर्मके केवल स्वल्प अवशेषसे वहां अवस्थिति प्राप्त नहीं कर सकता है । जिस प्रकार कोई एक सेवक

रत्नप्रभा

ननु भोगनाशयत्वात् कर्मणो लेशो न युक्त इति शङ्कते—नन्विति । कृत्स्न-कर्मणः भोगे जाते नाशः स्यात्, न तु भोगो जातः इति परिहारार्थः । भोगः न जायत इति अयुक्तम् इति शङ्कते—नन्विति । भोगः सावशेषो जात इति समाधत्ते—बाढमित्यादिना । इदम् एकदेशिव्याख्यानं दूषयति—न चेति । 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिशास्त्रेण स्वर्गभोगार्थं कर्म चोदितम्, तच्छेषस्य मर्त्यभोगहेतुत्वे शास्त्रविरोध इत्यर्थः । किञ्च स्वर्गहेतुकर्मशेषात् अवरोहे कपूययो-

रत्नप्रभाका अनुवाद

नाश होनेके कारण उसका लेश युक्त नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—“ननु” इत्यादिसे । भोग हो जानेपर सब कर्मोंका नाश होगा, परन्तु भोग तो हुआ ही नहीं है, ऐसा परिहारका अर्थ है । भोग नहीं हुआ, यह अयुक्त है, ऐसी शंका करते हैं—“ननु” इत्यादिसे । भोग सावशेष ही होता है, ऐसा समाधान करते हैं—“बाढम्” इत्यादिसे । इस एकदेशीके व्याख्यानको दूषित करते हैं—“न च” इत्यादिसे । 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि शास्त्रसे स्वर्गभोगके लिए कर्मका विधान है, यदि उस कर्मका शेषभाग मर्त्यभोगका हेतु हो, तो शास्त्रविरोध होगा,

भाष्य

मण्डलेऽवस्थातुं शक्नोतीति । न चैतद्युक्तमिव, नहि स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषानुवृत्तिरुपपद्यते कार्यविरोधित्वादित्युक्तम् । नन्वेतदप्युक्तम्—न स्वर्गफलस्य कर्मणो निखिलस्य भुक्तफलत्वं भविष्यति—इति । तदेतदपेशलम्—स्वर्गार्थं किल कर्म स्वर्गस्थस्यैव स्वर्गफलं निखिलं न जनयति स्वर्गच्युतस्यापि कंचित्फललेशं जनयतीति, न शब्दप्रमाणकानामीदृशी कल्पनाऽवकल्पते । स्नेहभाण्डे तु स्नेहलेशानुवृत्तिर्दृष्टत्वादुपपद्यते । तथा सेवकस्योपकरणलेशानुवृत्तिश्च दृश्यते, न त्विह तथा स्वर्गफलस्य कर्मणो लेशानुवृत्तिर्दृश्यते; नापि कल्पयितुं शक्यते, स्वर्गफलत्वशास्त्रविरोधात् । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्—न स्वर्गफलस्येष्टादेः कर्मणो भाण्डानुसारिस्नेहवदेकदेशोऽनुवर्तमानोऽनुशय इति । यदि हि येन सुकृतेन कर्मणेषादिना

भाष्यका अनुवाद

सेवाके सब उपकरणोंके साथ राजकुलमें जाय, वहां उसके बहुतसे उपकरण चिरप्रवाससे परिक्षीण हो जाय और छत्र, पादुका आदि अवशेष रह जाय, तो वह राजकुलमें अवस्थान नहीं कर सकता, उसी प्रकार अनुशयमात्र जिसका परिग्रह है, ऐसा जीव चन्द्रमण्डलमें अवस्थान नहीं कर सकता । परन्तु यह युक्त ही नहीं है, क्योंकि स्वर्गके लिए किया हुआ कर्म जो भुक्तफल है, उसके अवशेषकी अनुवृत्ति कार्य-फलके विरोधी होनेसे उपपन्न नहीं होती, ऐसा कहा गया है । परन्तु यह भी कहा गया है कि—जिसका फल स्वर्ग है, ऐसा निखिल कर्म भुक्तफल नहीं होता, यह युक्त नहीं है, क्योंकि स्वर्गार्थ कर्म स्वर्गमें रहनेवालेको ही निखिल स्वर्गफल उत्पन्न नहीं करता, किन्तु स्वर्गसे गिरे हुए को भी कुछ एक फललेश उत्पन्न करता है । यह कल्पना जिनको शब्द प्रमाण है उनको नहीं घटती । स्नेह भाण्डमें तो स्नेहलेशकी अनुवृत्ति देखनेमें आनेसे उपपन्न होती है, उसी प्रकार सेवकके उपकरणलेशकी अनुवृत्ति भी देखनेमें आती है । परन्तु इस प्रकार यहां जिसका फल स्वर्ग है, ऐसे कर्मके लेशकी अनु-

रत्नप्रभा

न्यापत्तिश्चुतिविरोध इत्याह—अवश्यञ्चेति । स्वाभिमतम् अनुशयम् आह—तस्मा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है । और स्वर्गके लिए किये गये कर्मोंका जो शेष अनुशय है, उससे अवरोहण माननेपर कर्मशेषसे कपूययोनिकी प्राप्ति होती है । यह जो श्रुति कहती है, उसका विरोध होगा, ऐसा कहते हैं—‘अवश्यं च’ इत्यादिसे । स्वाभिमत अनुशय कहते हैं—‘तस्मात्’

भाष्य

स्वर्गमन्वभूवंस्तस्यैव कश्चिदेकदेशोऽनुशयः कल्प्येत ततो रमणीय एवैकोऽनुशयः स्यान्न विपरीतः । तत्रेयमनुशयविभागश्रुतिरुपरुध्येत—‘तद्य इह रमणीयचरणा, अथ य इह कपूयचरणाः’ (छा० ५।१०।७) इति । तस्मादामुष्मिकफले कर्मजात उपभुक्तेऽवशिष्टमैहिकफलं कर्मान्तरजातमनुशयस्तद्वन्तोऽवरोहन्तीति । यदुक्तं—यत्किञ्चेत्यविशेषपरामर्शस्त्वस्येह कृतस्य कर्मणः फलोपभोगेनान्तं प्राप्य निरनुशया अवरोहन्ति इति । नैतदेवम् । अनुशयसद्भावस्यावगमितत्वात्, यत्किञ्चिदिह कृतमामुष्मिकफलं कर्मारब्ध-

भाष्यका अनुवाद

श्रुति नहीं दिखाई देती, तथा उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि जो शास्त्र स्वर्गरूप फल कहता है, उसका विरोध है । और अवश्य ही यह इसी प्रकार समझना चाहिए—इष्ट आदि कर्म जिसका फल स्वर्ग है, उसीका भाण्डानुसारी स्नेहके समान अनुवर्तमान जो एकदेश है, वह अनुशय नहीं है, क्योंकि इष्ट आदि सुकृत कर्म द्वारा जीवोंने स्वर्गका अनुभव किया है, उसका ही कोई एक देश अनुशय है, ऐसी यदि कल्पना की जाय, तब तो अकेला रमणीय ही अनुशय होगा, उससे विपरीत नहीं होगा । तब इस अनुशयका विभाग दिखलानेवाली श्रुतिका बाध होगा—‘तद्य इह रमणीयचरणा०’ (उनमें जो यहां पुण्य कर्म करनेवाले हैं और जो यहां पाप करनेवाले हैं) इस प्रकारकी । इसलिए परलोकमें फल देनेवाले सब कर्मोंके उपभुक्त हो जानेपर बचे हुए इस लोकमें फल देनेवाले दूसरे जो कर्म हैं वे अनुशय हैं और उनके साथ ही (जीव) अवरोहण करते हैं । ‘यत् किञ्च’ (जो कुछ) इस प्रकार अविशेषके परामर्शसे यहां किये गये सब कर्मोंके फलोप-

रत्नप्रभा

दिति । पूर्वपक्षबीजम् अनूद्य दूषयति—यदित्यादिना । क्षपयित्वा पुनरागच्छतीति प्राप्यान्तमिति वाक्येन गम्यत इति योजना । जन्मारभ्य दृष्टभोगलिङ्गानुगृहीतया रमणीयकपूयचरणश्रुत्या ऐहिकानुशयाख्यकर्मविशेषपरया विरोधाद् यत्किञ्चेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । पूर्वपक्ष बीजका अनुवाद कर उसे दूषित करते हैं—“यत्” इत्यादिसे । क्षपयित्वा—क्षय कर फिर लौट आते हैं, यह ‘प्राप्यान्तं’ इस वाक्यसे समझा जाता है, ऐसी योजना है ।

भाष्य

भोगं तत्सर्वं फलोपभोगेन क्षपयित्वेति गम्यते । यदप्युक्तं—प्रायणम-
विशेषादनारब्धफलं कृत्स्नमेव कर्माभिव्यनक्ति, तत्र केनचित्कर्मणाऽ-
मुष्मिच्छोके फलमारभ्यते केनचिदस्मिन्नित्ययं विभागो न सम्भवति इति ।
तदप्यनुशयसद्भावप्रतिपादनेनैव प्रत्युक्तम् । अपि च केन हेतुना प्रायण-
मनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकं प्रतिज्ञायते इति वक्तव्यम् । आरब्ध-
फलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तेस्तदुपशमात् प्रायणकाले

भाष्यका अनुवाद

भोगसे अन्त प्राप्त करके अनुशयरहित ही जीव अवरोहण करते हैं, ऐसा जो
कहा गया है, वह ऐसा नहीं है, क्योंकि अनुशयका सद्भाव अवगमित है ।
जो कुछ यहां आमुष्मिक फलवाला कर्म किया गया है वह सब जिसका भोग
आरब्ध है, उसका फलके उपभोगसे क्षय करके—ऐसा अर्थ समझा जाता है ।
और मरण अविशेषसे अनारब्ध फलवाले सब कर्मोंकी अभिव्यक्ति करता है,
इसलिए किसी एक कर्मसे परलोकमें फल उत्पन्न होता है और किसी एकसे इस
लोक में, यह विभाग नहीं हो सकता, ऐसा जो कहा गया है, उसका भी
अनुशयके सद्भावको प्रतिपादन करनेसे ही निराकरण किया गया है । इसी प्रकार

रत्नप्रभा

यावत्सम्पात्तमिति च सामान्यशब्दयोः आमुष्मिकविषयत्वेन सङ्कोचः न्याय्य इति
भावः । मरणं कृत्स्नकर्माभिव्यञ्जकम् इति अयुक्तम्, उक्तानुशयश्रुतिविरोधादित्याह—
तदपीति । बलवदनारब्धकर्मप्रतिबन्धात् च न कृत्स्नकर्माभिव्यक्तिः इत्याह—
अपि चेत्यादिना । तस्य कृत्स्नकर्मव्यञ्जकत्वे हेतुर्नास्तीति भावः । प्रश्नं
मत्वोत्तरं शङ्कते—आरब्धेति । आरब्धवत् अनारब्धस्यापि बलवतः प्रतिबन्ध-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जन्मके आरम्भसे ही भोग देखनेमें आता है, इस लिंगसे अनुगृहीत और ऐहिक अनुशयसंज्ञक
कर्मविशेषका प्रतिपादन करनेवाली 'रमणीयकपूयचरण' श्रुतिके साथ विरोध होनेसे 'यत्किंच'
और 'यावत्संपातम्' इन सामान्य शब्दों आमुष्मिक कर्मविषयक हैं, ऐसा संकोच करना
युक्त है, ऐसा भाव है । मरण सब कर्मोंका अभिज्यञ्जक है, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि उक्त
'रमणीयचरण' इत्यादि अनुशयश्रुतिका विरोध है, ऐसा कहते हैं—“तदपि” इत्यादिसे । मरण
सब कर्मोंका अभिव्यञ्जक नहीं है, क्योंकि बलवत् अनारब्धकर्म प्रतिबन्धक हैं, ऐसा कहते हैं—
“अपि च” इत्यादिसे । मरण सब कर्मोंका अभिव्यञ्जक है, इसमें कोई कारण नहीं है, ऐसा भाव

भाष्य

वृक्ष्युद्भवो भवतीति यद्युच्येत । तत्र वक्तव्यम् । यथैव तर्हि प्राक्प्रायणादा-
रब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृक्ष्युद्भवानुपपत्तिरित्येवं प्रायणकालेपि
विरुद्धफलस्यानेकस्य कर्मणो युगपत्फलारम्भासम्भवाद्बलवता प्रतिबद्धस्य
दुर्बलस्य वृक्ष्युद्भवानुपपत्तिरिति । न ह्यनारब्धफलत्वसामान्येन जात्यन्तरोप-
भोग्यफलमप्यनेकं कर्मैकस्मिन् प्रायणे युगपदभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभत
इति शक्यं वक्तुं, प्रतिनियतफलत्वविरोधात्, नापि कस्यचित्कर्मणः प्रायणेऽ-
भिव्यक्तिः कस्यचिदुच्छेद इति शक्यते वक्तुम् । ऐकान्तिकफलत्वविरोधात् ।

भाष्यका अनुवाद

जिसका फल आरब्ध नहीं हुआ है ऐसे सब कर्मका मरण अभिव्यक्त है, ऐसी
प्रतिज्ञा किस हेतुसे की गई है, यह कहना चाहिए । जिसका फल आरब्ध हो
गया है ऐसे कर्मसे प्रतिबद्ध अन्य फलके व्यापारका उद्भव अनुपपन्न है, अतः उस
प्रतिबन्धके शान्त होनेसे मरणकालमें व्यापारका उद्भव होगा, ऐसा यदि कहे, तो
उस पर कहना चाहिए—जैसे जिसका फल आरब्ध हुआ है, ऐसे कर्मसे प्रतिबद्ध दूसरे
कर्मके व्यापारकी मरणके पूर्व अनुपपत्ति है, वैसे ही मरणकालमें भी विरुद्ध फलवाले
अनेक कर्म एक ही समयमें फलको उत्पन्न करें यह असंभव है, अतः बलवत्
कर्मसे प्रतिबद्ध दुर्बल कर्मके व्यापारका उद्भव अनुपपन्न है, जिनके फल अन्य जातिमें

रत्नप्रभा

कत्वात् न सर्वकर्मणः फलदानाय अभिव्यक्तिः इति समाधत्ते—यथेति । अनारब्ध-
फलत्वाविशेषात् सर्वकर्मणाम् अभिव्यक्तिम् आशङ्क्य मिथोविरुद्धस्वर्गनरकादिदेह-
फलानामेकदेहारम्भकत्वासम्भवः उक्तः, तं विवृणोति—न हीति । अस्तु तर्हि
दुर्बलस्य कर्मणो नाश इत्यत आह—नापीति । ‘नाभुक्तं क्षीयते कर्म’ इति
एकान्तः उत्सर्गः, स च प्रायश्चित्तब्रह्मज्ञानध्यानैर्बाध्यते, न मरणमात्रणेत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है । पूर्ववादी प्रश्न मानकर उत्तरकी आशंका करता है—‘अनारब्ध कर्मके समान यदि आरब्ध भी
बलवत् हो, तो दुर्बलका प्रतिबन्ध होनेसे सब कर्म फलदानके लिए अभिव्यक्त नहीं होंगे, ऐसा
समाधान करते हैं—“यथा” इत्यादिसे । अनारब्धफलत्वके विशेष न होनेसे सब कर्मोंकी
अभिव्यक्तिकी आशंका करके परस्पर-विरुद्ध स्वर्ग, नरक आदि देहके फल एक देहके आरम्भक
नहीं हो सकते, ऐसा कहा गया है, उसका विवरण करते हैं—“नहि” इत्यादिसे । ठीक है, तब
तो दुर्बल कर्मका नाश हो सकता है, इसपर कहते हैं—“नापि” इत्यादिसे । अभुक्त कर्मका क्षय नहीं
होता, यह एकान्त अर्थात् उत्सर्ग है, उस एकान्तका प्रायश्चित्त, ब्रह्मज्ञान और ध्यानसे बाध होता

भाष्य

नहि प्रायश्चित्तादिभिर्हेतुभिर्विना कर्मणामुच्छेदः संभाव्यते । स्मृतिरपि विरुद्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्य कर्मान्तरस्य चिरमवस्थानं दर्शयति—

कदाचित्सुकृतं कर्म कूटस्थमिह तिष्ठति ।

मज्जमानस्य संसारे यावद्दुःखाद्रिमुच्यते ॥

इत्येवंजातीयका । यदि च कृत्स्नमनारब्धफलं कर्मैकस्मिन्प्रायणेऽभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभेत, ततः स्वर्गनरकतिर्यग्योनिष्वधिकारानवग-

भाष्यका अनुवाद

उपभोग्य हैं, ऐसे अनेक भी कर्म एक मरणमें एक ही समय अभिव्यक्त होकर अनारब्धफलस्वरूप सामान्य धर्मसे एक जाति आरंभ करते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतिनियतफलत्वका विरोध है । और किसी एक कर्मकी मरणकालमें अभिव्यक्ति हो और किसीका उच्छेद हो, ऐसा कहना शक्य नहीं है, क्योंकि कर्मका ऐकान्तिक फल होता है, उसका विरोध होगा । निश्चय, प्रायश्चित आदि हेतुओंके बिना कर्मोंका उच्छेद नहीं हो सकता । विरुद्ध फलवाले कर्मसे प्रतिबद्ध अन्य कर्मकी चिरस्थिति स्मृति भी दिखलाती है—‘कदाचित् सुकृतं कर्म०’ (किसी समय संसारमें मग्न हुए पुरुषका सुकृत कर्म यहाँ कूटस्थ रहता है, जहाँ तक वह दुःखसे विमुक्त होता है वहाँ तक) इस प्रकार । यदि अनारब्ध फलवाले सब कर्म एक मरणसमयमें अभिव्यक्त

रत्नप्रभा

मरणेन दुर्बलकर्माविनाशे मानम् आह—स्मृतिरिति । कर्मनाशपक्षं निरस्य प्रकृत-कृत्स्नकर्माभिव्यक्तिपक्षे दोषान्तरम् आह—यदि चेति । कृत्स्नकर्मणाम् एकस्मिन् देवादिजन्मनि भोगेन क्षयात् न जन्मान्तरं स्यात्, ज्ञानाभावात् न मुक्तिः इति अज्ञदेवस्य कष्टान्तरालदशा स्यात् इति अर्थः ।

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् ।

चण्डालपुष्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, मरणमात्रसे कर्मका नाश नहीं होता, ऐसा अर्थ है । मरणसे दुर्बल कर्मका नाश नहीं होता, इसमें प्रमाण कहते हैं—“स्मृतिः” इत्यादिसे । कर्मका नाश होता है, इस पक्षका निरसन करके प्रकृत सब कर्मोंकी अभिव्यक्ति-पक्षमें अन्य दोष कहते हैं—“यदि च” इत्यादिसे । सब कर्मका एक देवादि जन्ममें भोगद्वारा क्षय होनेके कारण दूसरा जन्म और ज्ञानके अभावसे मुक्ति भी नहीं होगी । इस प्रकार अज्ञ देवकी कष्टसे भरी हुई] दशा होगी, ऐसा तात्पर्य है ।

भाष्य

माद्वर्माधर्मानुत्पत्तौ निमित्ताभावाभ्युत्तरा जातिरुपपद्येत । ब्रह्महत्यादीनां चैकैकस्य कर्मणोऽनेकजन्मनिमित्तत्वं स्मर्यमाणमुपपद्येत । नच धर्माधर्मयोः स्वरूपफलसाधनादिसमधिगमे शास्त्रादतिरिक्तं कारणं शक्यं सम्भावयितुम् । नच दृष्टफलस्य कर्मणः कारीर्यादेः प्रायणमभिव्यञ्जकं सम्भवतीति, अव्यापिकाऽपीयं प्रायणस्याभिव्यञ्जकत्वकल्पना । प्रदीपोपन्यासोऽपि कर्मबलाबल-प्रदर्शनेनैव प्रतिनीतः । स्थूलसूक्ष्मरूपाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिवच्चेदं द्रष्टव्यम् । यथाहि प्रदीपः समानेऽपि संनिधाने स्थूलं रूपमभिव्यनक्ति न सूक्ष्मम्, एवं

भाष्यका अनुवाद

होकर एक जाति उत्पन्न करें, तो स्वर्ग, नरक और पशु योनियोंमें अधिकार की अप्राप्तिसे धर्म और अधर्मकी अनुपपत्ति होनेपर उत्तर जन्म उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि निमित्तका अभाव है । और ब्रह्महत्या आदि एक एक कर्म अनेक जन्मोंका निमित्त है, यह जो स्मृति कहती है, उसका बाध होगा और धर्म और अधर्मके स्वरूप, फल, साधन आदिके ज्ञानके लिए शास्त्रसे अन्य कारणकी संभावना नहीं कर सकते । और मरण, कारीर्यादि कर्म जिनका फल इस जन्ममें देखनेमें आता है, उनका अभिव्यञ्जक नहीं हो सकता, इसलिए मरण अभिव्यञ्जक है, यह कल्पना व्यापक नहीं है । प्रदीपके उपन्यासका भी कर्मके बलाबलके प्रदर्शनसे ही निराकरण किया गया है

रत्नप्रभा

इत्यादिस्मृतिविरोधाच्च न सर्वकर्मणाम् एकजन्मारम्भकत्वम् इत्याह—ब्रह्मेति । ननु एकस्य कर्मणः कथमनेकजन्मफलकत्वम्, अदृष्टत्वात्, इत्यत आह—न चेति । किञ्च व्यञ्जकत्वेपि मरणस्य किं सर्वकर्मव्यञ्जकत्वं कल्प्यते उत यत्किञ्चित्कर्मव्यञ्जकत्वम् ? नाद्यः इह कृतकारीर्यादेः अत्रैव फलहेतोर्मरणव्यज्यत्वासंभवात् इत्याह—नचेति । द्वितीयं निरस्यन् परोक्तं दृष्टान्तम् विघटयति—प्रदीपेति । रूपाणां प्रदीपवत् मरणं न कस्यचिद् अपि कर्मणो व्यञ्जकम्, किन्तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

और 'श्वसूकरखरोष्ट्राणां०' (ब्रह्महत्या करनेवाला, कुत्ता, सूअर, गदहा, ऊँट, बैल, बकरी, भेड़, मृग, पक्षी, चण्डाल और पुक्सकी योनिको प्राप्त करता है) इत्यादि स्मृतिसे विरोध होनेके कारण सब कर्म एक जन्म उत्पन्न नहीं करते, ऐसा कहते हैं—“ब्रह्म” इत्यादिसे । परन्तु एक कम अनेक जन्मरूप फलका उत्पादक किस प्रकार होता है, क्योंकि देखनेमें नहीं आता, ऐसा कहते हैं—“न च” इत्यादिसे । और मरण कर्मका व्यञ्जक होनेपर भी क्या वह सब कर्मोंका

भाष्य

प्रायणं समानेऽप्यनारब्धफलस्य कर्मजातस्य प्राप्तावसरत्वे बलवतः कर्मणो वृत्तिमुद्गावयति न दुर्बलस्येति । तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायविरोधादश्लिष्टोऽयम-
शेषकर्माभिव्यक्त्यभ्युपगमः । शेषकर्मसद्भावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्ययमप्यस्थाने
संभ्रमः, सम्यग्दर्शनादशेषकर्मक्षयश्रुतेः । तस्मात्स्थितमेतदेवानुशयवन्तोऽ-

भाष्यका अनुवाद

और स्थूल और सूक्ष्म रूपकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिके समान इसे जानना चाहिए । क्योंकि जैसे सन्निधिके समान होनेपर भी प्रदीप स्थूलरूप अभिव्यक्त करता है, सूक्ष्म नहीं, वैसे जिस कर्मवृन्दका फल अनारब्ध है, ऐसे कर्मवृन्दका प्राप्त हुआ अवसर समान है, तो भी मरण बलवत् कर्मका व्यापार उत्पन्न करता है, दुर्बलका नहीं करता । इसलिए श्रुति, स्मृति और न्यायके विरोधसे अशेष कर्मकी अभिव्यक्तिका यह स्वीकार युक्त नहीं है । शेष कर्मके सद्भावेसे अनिमोक्षका प्रसंग होगा, यह भी संभ्रम स्थानमें नहीं है,

रत्नप्रभा

प्रबलकर्मप्रतिबन्धाभावे दुर्बलं व्यज्यत इत्यर्थः । एवं मरणस्य व्यञ्जकत्वानङ्गी-
कारेण प्रदीपदृष्टान्तो निरस्तः, अङ्गीकारे अपि अनुकूलो दृष्टान्त इत्याह—
स्थूलेति । सूक्ष्मम् अनुद्भूतरूपमिति, मरणे सर्वकर्माभिव्यक्त्यसिद्धिरिति शेषः ।
एवं सर्वकर्मसंभ्रः एकजन्मारम्भकः इत्यैकभविकः कर्माशय इति मतनिरासमुप-
संहरति—तस्मादिति । चरणश्रुत्या ततः शेषेणेत्यादिस्मृत्या ‘प्रबलप्रतिबन्धात्’ इति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभिव्यञ्जक है, ऐसी कल्पना करते हो अथवा यत्किञ्चित् कर्मका अभिव्यञ्जक है, ऐसी? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि कारीर्यादि इष्टि जो मेघके लिए की जाती है, उसका फल यहीं होता है, इसलिए मरण उसका व्यञ्जक है, ऐसा संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—“न च” इत्यादिसे । द्वितीयका निरसन करते हुए परोक्त दृष्टान्तका निराकरण करते हैं—“प्रदीप” इत्यादिसे । जैसा दीप रूपोंका व्यञ्जक है, वैसा मरण किसी भी कर्मका व्यञ्जक नहीं है, किंतु प्रबल कर्मके प्रतिबन्धके अभावमें दुर्बल कर्म व्यक्त होता है, ऐसा अर्थ है । इस प्रकार मरणके व्यञ्जकत्वका न स्वीकार करनेसे प्रदीपका दृष्टान्त निरस्त है, और मरणके व्यञ्जकत्वका स्वीकार करनेपर भी प्रदीपका दृष्टान्त अनुकूल है, ऐसा कहते हैं—“स्थूल” इत्यादिसे । सूक्ष्म—अनुद्भूत रूपवाला, इस प्रकार मरणमें सब कर्मोंकी अभिव्यक्ति असिद्ध है, इतना शेष है । इस प्रकार सब कर्म एक जन्मके उत्पादक हैं, इससे कर्माशय ‘एकभविक है’ इस मतके निरासका उपसंहार करते हैं—“तस्मात्” इत्यादिसे । चरणश्रुतिसे ‘ततः शेषेण’

भाष्य

चरोहन्तीति । ते चावरोहन्तो यथेतमनेवं चावरोहन्ति । यथेतमिति यथागत-
मित्यर्थः । अनेवमिति तद्विपर्ययेणेत्यर्थः । धूमाकाशयोः पितृयाणेऽध्वन्यु-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि सम्यग् दर्शनसे अशेष कर्मका क्षय होता है, इसप्रकार भुति कहती है, इसलिये अनुशयसहित जीव अवरोहण करते हैं, ऐसा सिद्ध है। और वे अवरोहण करनेवाले जिस मार्गसे गये थे उस मार्गसे और अन्य मार्गसे भी अवरोहण करते हैं। 'यथेतम्' अर्थात् जैसे गये थे, वैसे ही, ऐसा अर्थ है। 'अनेवम्' अर्थात्

रत्नप्रभा

न्यायेन च अनभिव्यक्तकर्मसद्भावाद् इत्यर्थः । ननु मुक्त्यनुपपत्त्याऽङ्गीकार्यः
ऐकभविकः ? इत्यत आह—शेषेति । सूत्रशेषं व्याचष्टे—ते चेत्यादिना ।
अवरोहमार्गः इत्थं श्रूयते—'तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते,
यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं, वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमोभूत्वाऽभ्रं भवति अभ्रं भूत्वा
मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति, त इह ब्रीहियवा, ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा
इति जायन्ते, अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय
एव भवति तद्य इह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते' इति । धूमाद्यध्वना
यथेतं—यथागतं तथैतमध्वानं पुनरायान्तीत्युक्त्वा धूमादिरूपपितृमार्गस्थरात्र्यादिकं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादि स्मृतिसे और 'प्रबलप्रतिबन्धात्' इस न्यायसे अनभिव्यक्त कर्मका सद्भाव है, अतः
ऐसा अर्थ है। परन्तु मुक्तिकी अनुपपत्तिसे ऐकभविक सब कर्मोंका स्वीकार करना चाहिए,
इसपर कहते हैं—“शेष” इत्यादिसे। सूत्रशेषका व्याख्यान करते हैं—“ते च” इत्यादिसे।
अवरोह मार्ग इस प्रकार सुना जाता है—'तस्मिन् यावत्' (वह चन्द्रमण्डलमें जबतक कर्मका
क्षय नहीं होता तबतक रहकर फिर इसी मार्गसे पीछे लौटता है—प्रथम आकाशमें, आकाशसे
वायुमें, वायु होकर धूम होता है, धूम होकर अभ्र होता है, अभ्र होकर मेघ होता है, और मेघ
होकर जलरूपसे पृथिवीपर गिरता है, वे यहां, ब्रीहि यव, ओषधि, वनस्पति, तिल और माष आदि
होते हैं, उससे अनुशयीका निस्सरण बुझकर है, जो जो अन्न खाता है और जो रेतका सिंचन
करता है, वह तदाकृति होता है और वे यहां पर जो रमणीय आचरणवाले होते हैं वे रमणीय
योनि पाते हैं)। धूमादिमार्गसे जैसे गया था वैसे ही फिर लौटता है, यह कहकर धूमादिरूप
पितृमार्गमें स्थित रात्रि आदि नहीं कहे गये हैं, और अभ्र आदि अधिक कहे गये हैं, ऐसा

भाष्य

पात्तयोरवरोहे संकीर्तनाद्यथेतंशब्दाच्च यथागतमिति प्रतीयते । रात्र्याद्य-
संकीर्तनादभ्राद्युपसंख्यानाच्च विपर्ययोऽपि प्रतीयते ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

उससे विपरीत प्रकारसे, ऐसा अर्थ है । धूम और आकाश जो पितृतार्गमें
कहे गये हैं, उनका अवरोहणमें संकीर्तन होनेसे और 'यथेतम्' इस शब्दसे
'जैसे गया वैसे' ऐसी प्रतीति होती है । रात्रि आदिका संकीर्तन नहीं है और
अभ्र आदिका उपसंख्यान है, इससे विपरीतकी भी प्रतीति होती है ॥ ८ ॥

रत्नप्रभा

नोक्तम् अधिकं चाऽऽदिकमुक्तम् इति मत्वा सूत्रकृतोक्तं—यथेतमनेवञ्चेति ।
अवशिष्टश्रुत्यर्थोऽग्रे स्फुटीभविष्यति ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विचारकर सूत्रकारने—'यथेतमनेवं च' (जैसे गया था वैसे ही नहीं) ऐसा कहा है ।
अवशिष्ट श्रुतिका अर्थ आगे स्पष्ट हो जायगा ॥ ८ ॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ९ ॥

पदच्छेद—चरणात्, इति, चेत्, न, उपलक्षणार्था, इति, कार्ष्णाजिनिः ।

पदार्थोक्ति—[ननु] चरणात्—चारित्र्यात् [एव 'रमणीयचरणा' इत्यादि
श्रुतिः योन्यापत्तिं दर्शयति, न अनुशयात्, चरणानुशयौ च परस्परं भिन्नौ]
इति चेन्न, [यतः] कार्ष्णाजिनिः—तन्नामकः कश्चनाचार्यः [इयं चरणश्रुतिः]
उपलक्षणार्था—स्वप्रतिपादकत्वविशिष्टस्वेतरप्रतिपादिका इति [मन्यते] ।

भाषार्थ—'रमणीयचरणा' इत्यादि श्रुति चरण—चारित्र्यसे ही योन्यापत्तिको
कहती है, अनुशयसे नहीं, अनुशय और चरण परस्पर विलक्षण हैं, यदि ऐसी
शङ्का करो, तो युक्त नहीं है, क्योंकि कार्ष्णाजिनि नामके आचार्य चरणश्रुतिको
उपलक्षणार्थ मानते हैं अर्थात् चरणशब्दसे अनुशय भी लिया जाता है ।

भाष्य

अथापि स्यात्—या श्रुतिरनुशयसद्भावप्रतिपादनायोदाहृता—‘तद्य इह रमणीयचरणाः’ (छा० ५।१०।७) इति—सा खलु चरणाद्योन्यापत्तिं दर्शयति, नानुशयात् । अन्यच्चरणमन्योऽनुशयः, चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यनर्थान्तरम् । अनुशयस्तु भुक्तफलात्कर्मणोऽतिरिक्तं कर्माभिप्रेतम् । श्रुतिश्च कर्मचरणे भेदेन व्यपदिशति—‘यथाकारी यथाचारी तथा भवति’ (बृ० ४।४।५) इति, ‘यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि’ (तै० १।११।२)

भाष्यका अनुवाद

हो सकता है—‘तद्य इह रमणीयचरणाः०’ (उनमें जो यहां पुण्य कर्मवाले हैं) यह जो श्रुति अनुशयके सद्भावके प्रतिपादनके लिए कही गई है, वह चरणसे योनिकी आपत्ति—प्राप्ति दिखलाती है, अनुशयसे नहीं । चरण भिन्न है और अनुशय भिन्न है । चरण, चारित्र, आचार और शील ये पर्यायशब्द हैं । अनुशय तो जिस कर्मका फलभोग किया गया है, ऐसे कर्मसे अतिरिक्त कर्म है, यह अमिप्राय है । और श्रुति भेदसे कर्म और चरणको कहती है—‘यथाकारी यथाचारी०’ (जैसा कर्म और जैसा आचरण करता है, वैसा ही वह होता है) इस प्रकार । और ‘यान्यनवद्यानि० कर्माणि०’ (जो अनिन्दित कर्म हैं, वे तुम्हें करने चाहिए अन्य नहीं, जो हम आचार्योंके सुचरित हैं वे ही तुम्हें करने चाहिए) इसप्रकार । इसलिए चरणसे योनिकी आपत्ति

रत्नप्रभा

सम्प्रति श्रुतिस्थचरणशब्दम् आक्षेपपूर्वकं सूत्रकृद् व्याचष्टे—चरणादिति चेदिति ।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।

अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधाः ॥

इति स्मृतावुक्ताः अद्रोहादयः । शास्त्रार्थज्ञानरूपं शीलं सर्वकर्माङ्गमुक्तम् । तद्बोधकं चरणपदम् अङ्गिनः श्रौतादिकर्णणो लक्षकम् । ‘कर्मण एवोत्तरावस्था

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब श्रुतिस्थ चरणशब्दका सूत्रकार आक्षेपपूर्वक व्याख्यान करते हैं—“चरणादिति चेन्न” इत्यादिसे । ‘अद्रोहः सर्वभूतेषु०’ (सब भूतोंमें कर्म, मन और वाणीसे अद्रोह—द्रोह न रखना अनुग्रह और ज्ञानको पण्डित लोग शील जानते हैं) इस प्रकार स्मृतिमें भी अद्रोह आदि कहा गया

भाष्य

इति च । तस्माच्चरणाद्योन्यापत्तिश्रुतेर्नानुशयसिद्धिरिति चेत् ; नैष दोषः ; यतोऽनुशयोपलक्षणार्थैवैषा चरणश्रुतिरिति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते ॥९॥

भाष्यका अनुवाद

कहनेवाली श्रुतिसे अनुशय सिद्ध नहीं होता, यदि ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि यह चरणश्रुति अनुशयके उपलक्षणके लिए ही है, ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्य मानते हैं ॥ ९ ॥

रत्नप्रभा

धर्माधर्माख्याऽपूर्वम्' इति कर्मलक्षणयैव तदभिन्नाऽपूर्वाख्यानुशयसिद्धिः इति कार्ष्णाजिनिमतम् ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है । शास्त्रार्थज्ञानरूप शील सब कर्मोंका अंग कहा गया है । उसका बोधक चरणपद अंगी जो श्रौतादि कर्म है, उसका लक्षक है । कर्मकी ही उत्तर अवस्था—धर्म और अधर्मरूप अपूर्व है, इस प्रकार कर्ममें लक्षणासे ही तदभिन्न अपूर्वनामक अनुशयकी सिद्धि है, ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्यका मत है ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥१०॥

पदच्छेद—आनर्थक्यम्, इति, चेत्, न, तदपेक्षत्वात् ।

पदार्थोक्ति—[ननु चरणश्रुतेर्मुख्यार्थपरित्यागेनानुशयार्थकत्वे] आनर्थक्यमिति चेन्न, तदपेक्षत्वात्—इष्टादिकर्मणामाचारनिर्वर्त्यत्वेन चरणापेक्षत्वात् [चरणश्रुतेः सार्थकत्वम् इत्यर्थः]

भाषार्थ—यदि चरणश्रुति अपने मुख्य अर्थको छोड़कर अनुशयरूप अर्थका बोधन करावे, तो उसमें—चरणश्रुतिमें आनर्थक्य प्रसक्त होगा, परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि इष्ट आदि कर्मोंकी सत्ता आचारके अधीन होनेसे चरणापेक्ष है, अतः नैरर्थक्य नहीं है ।

भाष्य

स्यादेतत्—कस्मात्पुनश्चरणशब्देन श्रौतं शीलं विहाय लाक्षणिकः अनुशयः प्रत्याग्यते ? ननु शीलस्यैव श्रौतस्य विहितप्रतिषिद्धस्य साध्व-साधुरूपस्य शुभाशुभयोन्यापत्तिः फलं भविष्यति, अवश्यं च शीलस्यापि किञ्चित्फलमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा ह्यानर्थक्यमेव शीलस्य प्रसज्येत—इति चेत्, नैष दोषः; कुतः ? तदपेक्षत्वात् । इष्टादि हि कर्मजातं चरणापेक्षम् । नहि सदाचारहीनः कश्चिदधिकृतः स्यात्, ‘आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः’ इत्यादिस्मृतिभ्यः । पुरुषार्थत्वेऽप्याचारस्य नानर्थक्यम् । इष्टादौ हि कर्मजाते भाष्यका अनुवाद

परन्तु चरणशब्दसे श्रुतिमें कहे गये शीलका त्याग करके लाक्षणिक अनुशयकी प्रतीति किस प्रकार की जाती है ? श्रुतिमें कहा गया विहित या प्रतिषिद्ध, साधु या असाधुरूप शीलका ही शुभ अथवा अशुभ जन्मप्राप्तिरूप फल होगा और शीलका भी कुछ फल अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, नहीं तो शीलमें आनर्थक्य ही प्रसक्त होगा । यदि ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है । किससे ? उस चरणकी अपेक्षा होनेसे । क्योंकि इष्ट आदि कर्मसमूह चरणकी अपेक्षा रखते हैं । निश्चय, सदाचारसे हीन पुरुष यज्ञमें अधिकृत नहीं होता, क्योंकि ‘आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः’, (आचारहीनको वेद पवित्र नहीं करते) इत्यादि स्मृतियां हैं । पुरुषार्थ—पुरुषसंस्कारक होनेपर भी आचारमें

रत्नप्रभा

तदेव शङ्कासमाधानाभ्याम् आह—आनर्थक्यमिति चेदित्यादिना सूत्रेण । चरणशब्दवाच्यस्यैव ग्रहणसम्भवात् न लक्षणा युक्ता इति शङ्किता एव ब्रूते—नन्विति । प्रतिषिद्धं शीलं क्रोधानृतादिरूपम् । किञ्च शीलस्य विफलत्वायोगात् श्रुतयोन्यापत्तिः तस्यैव फलं, नानुशयस्य इत्याह—अवश्यं चेति । ‘वेदास्तदर्थ-कर्माण्याचारं विना न फलन्ति’ इति स्मृत्या शीलस्य कर्माङ्गत्वात् न पृथक्फलापेक्षा, अङ्गिफलेन अर्थवत्त्वात् । न च अङ्गमात्रात् योन्यापत्तिः फलम् इति वाच्यम् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसे ही शंका और समाधानसे कहते हैं—“आनर्थक्यमिति चेन्न” इत्यादिसे । चरणशब्दके वाच्यार्थका ही ग्रहणसम्भव होनेसे लक्षणा युक्त नहीं है, ऐसी शंका करनेवाला ही कहता है—“ननु” इत्यादिसे । प्रतिषिद्ध शील, क्रोध, अहृतादिरूप है । और शीलमें निष्फलत्वके अयोगसे श्रुतिमें कहा गया जन्मप्रसंग उसका ही फल है, अनुशयका नहीं, ऐसा कहते हैं—“अवश्यं च” इत्यादिसे । वेद अर्थात् वेदार्थ कर्म आचारके बिना फल नहीं देते, ऐसी स्मृति होनेसे शील

भाष्य

फलमारभमाणे तदपेक्ष एवाचारस्तत्रैव कंचिदतिशयामारप्स्यते । कर्म च सर्वार्थकारि—इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः' तस्मात्कर्मैव शीलोपलक्षितमनुशयभूतं योन्यापत्तौ कारणमिति कार्ष्णाजिनेर्मतम् । नहि कर्मणि सम्भवति शीलाद्योन्यापत्तिर्युक्ता । नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हतीति ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

आनर्थक्य नहीं है, क्योंकि इष्ट आदि कर्मसमूह जब फल उत्पन्न करने लगेंगे । तब उनकी अपेक्षा रखनेवाला आचार उनमें ही कुछ अतिशय उत्पन्न करेगा । और कर्म सर्वार्थकारी है, ऐसी श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्धि है । इसलिए कर्म ही शीलसे उपलक्षित अनुशयरूप होकर जन्मप्रसंगमें कारण है, ऐसा कार्ष्णाजिनिका मत है । यह निश्चित है कि जब कर्मका संभव है तब शीलसे जन्मप्रसंग युक्त नहीं है, क्योंकि पैरसे पलायन करनेमें समर्थ कोई भी घुटनोंसे पलायन नहीं करता ॥ १० ॥

रत्नप्रभा

अङ्गस्य फलासम्भवेन मुख्यार्थस्याऽऽचारस्य ग्रहणायोगात् लक्षणा युक्ता इति समाधानार्थः । यदि आचारस्य स्नानादिवत् पुरुषसंस्कारतया पुरुषार्थत्वं तदापि अविरोध इत्याह—पुरुषार्थत्वेऽपीति । अङ्गावबद्धोपास्तिवदाचारोऽर्थवानित्यर्थः । अस्तु तर्हि शीलाख्याचारादेव योन्यापत्तिरित्याशङ्क्य 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा' इत्यादिश्रुत्या विरोधात् न एवम् इति आह—कर्म चेति । पारयमाणः—शक्तः ॥ १० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मका अंग है, इसलिए उसको अलग फलकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि अंगी जो कर्म है उसके फलसे अङ्ग जो शील है वह अर्थवत्-फलवाला होता है । और अङ्गमात्रसे योनिकी आपत्तिरूप—जन्मप्रसङ्गरूप फल होता है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि अङ्गमें फलका सम्भव नहीं है, इससे मुख्य अर्थमें आचारका ग्रहण करना युक्त नहीं है, अतः लक्षणा युक्त है, ऐसा समाधानका अर्थ है । यदि आचारमें स्नानादिके समान पुरुषसंस्कार द्वारा पुरुषार्थत्व माना जाय, तो भी कोई विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं—“पुरुषार्थत्वेऽपि” इत्यादिसे । अङ्गके साथ जुटी हुई उपासनाके समान आचार भी फलवान् है, ऐसा अर्थ है । तब शीलनामक आचारसे ही जन्मप्रसंग हो, ऐसी आशंका करके 'पुण्यो वै पुण्येन' इत्यादि श्रुतिका विरोध होनेसे, ऐसा नहीं हो सकता, इस प्रकार कहते हैं—“कर्म च” इत्यादिसे । पारयमाण—शक्त अर्थात् समर्थ ॥ १० ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥११॥

पदच्छेद—सुकृतदुष्कृते, एव, इति, तु, बादरिः ।

पदार्थोक्ति—बादरिः—तन्नामकः आचार्यवर्यस्तु [चरणशब्देन] सुकृत-दुष्कृते—पुण्यपापे एव [गृहेते] इति [मन्यते, कुतः ? लोके 'धर्मं चरति' इति प्रतीत्या कर्मचरणयोः परस्परमभेदेन प्रयोगदर्शनात्, अतः इष्टादिकर्मकारिणां चन्द्रलोकं गतानाम् पुनरवरोहार्थमनुशयोऽस्तीति सिद्धम्] ।

भाषार्थ—बादरि नामके आचार्यप्रवर तो 'चरण' शब्दसे पुण्यपापरूप कर्म गृहीत होता है' ऐसा मानते हैं, क्योंकि लोकमें 'धर्मं चरति' इस प्रकारकी प्रतीतिसे कर्म और चरणका परस्पर अभेद प्रतीत होता है, अतः चन्द्रलोकमें गये हुए इष्टादिकारियोंका अनुशय है, यह सिद्ध हुआ ।

भाष्य

बादरिस्त्वाचार्यः सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्देन प्रत्याय्येते इति मन्यते । चरणमनुष्ठानं कर्मेत्यनर्थान्तरम् । तथाहि—अविशेषेण कर्ममात्रे चरतिः प्रयुज्यमानो दृश्यते—यो हीष्टादिलक्षणं पुण्यं कर्म करोति तं लौकिका आचक्षते—धर्मं चरत्येष महात्मेति । आचारोऽपि च धर्मविशेष

भाष्यका अनुवाद

परन्तु चरणशब्दसे सुकृत और दुष्कृतकी ही प्रतीति होती हैं, ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं । चरण, अनुष्ठान और कर्म ये अनर्थान्तर—पर्याय वाचक शब्द हैं । क्योंकि 'चर्' धातु अविशेषसे कर्ममात्रमें प्रयुक्त देखनेमें आता है । इसीलिए जो इष्ट आदि लक्षण पुण्यकर्म करता है, उसको, यह

रत्नप्रभा

यद्यपि अक्रोधादिरूपं शीलं साधारणधर्मात्मकं विशेषरूपात् कर्मणो भिन्नम्, तथापि चरणाचारशब्दौ कर्मवाचिनौ एव न शीलवाचकौ इति न लक्षणावसर इति बादरिमतम् मुख्यसिद्धान्तम् आह—सुकृतेति । चरणशब्दार्थम् उपसंहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि अक्रोध आदिरूप शील जो साधारण धर्मात्मक है, वह विशेषरूपकर्मसे भिन्न है, तो भी चरण और आचारशब्द कर्मवाची है, शीलवाचक नहीं है, इससे लक्षणाका अवसर नहीं है, ऐसा जो बादरिका मत है, वही मुख्य सिद्धान्त है, ऐसा कहते हैं—“सुकृतदुष्कृते”

भाष्य

एव । भेदव्यपदेशस्तु कर्मचरणयोर्ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनाप्युपपद्यते । तस्माद्रमणीयचरणाः—प्रशस्तकर्माणः, कपूयचरणाः—निन्दितकर्माण इति निर्णयः ॥ ११ ॥

भाष्यका अनुवाद

महात्मा धर्मका आचरण करता है' ऐसा लोकमें सब कहते हैं । आचार भी धर्म विशेष ही है । कर्म और चरणका भेदव्यपदेश तो 'ब्राह्मणपरिव्राजक' न्यायसे भी उपपन्न होता है । इसलिए 'रमणीयचरणाः—प्रशस्तकर्मवाले और कपूयचरणाः—निन्दित कर्मवाले, ऐसा निर्णय है ॥ ११ ॥

रत्नप्रभा

आचारोऽपीति । कर्मण एव आचारत्वे 'यथाकारी' इत्यादिभेदोक्तिः कथमित्यत आह—भेदव्यपदेश इति । निरुपपदाचारशब्दात् सदाचाररूपो विशेषो भाति, अतस्तत्समभिव्याहृतः कर्मसामान्यवाचको यथाकारीति शब्दस्तदितरविशेषपरः, एवम् 'अनवद्यानि कर्माणि' इति सामान्यतः, अस्माकं सुचरितानि' इति विशेष इति विवेकः । तस्मात् अनुशयबलादागत्यवश्यम्भावानुसन्धानाद्वैराग्यमिति सिद्धम् ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । चरणशब्दके अर्थका उपसंहार करते हैं—“आचारोऽपि” इत्यादिसे । यदि कर्म ही आचार हो, तो 'यथाकारी' इत्यादि भेदोक्ति किस प्रकार सिद्ध होगी, इसपर कहते हैं—“भेदव्यपदेश” इत्यादिसे । उपपदरहित आचारशब्दसे सदाचाररूप विशेष समझा जाता है, इसलिए उसके पास आया हुआ कर्मसामान्यवाचक यथाकारीशब्द उससे (सदाचारसे) अन्य विशेष अर्थका प्रतिपादन करता है । इस प्रकार 'यान्यनवद्यानि' इस श्रुतिमें 'अनवद्यानि कर्माणि' यह सामान्य रीतिसे कहा गया है, 'अस्माकं सुचरितानि, यह विशेष है, ऐसा समझना चाहिए । इसलिए अनुशयके बलसे आगति अवश्य होनेवाली है, इस अनुसन्धानसे वैराग्य सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

१-जहां सामान्यवाची शब्दका विशेषार्थक पदके साभिध्य होनेसे अन्य अर्थ प्राप्त होता है, वहीं यह न्याय प्राप्त होता है । जैसे ब्राह्मणों और परिव्राजकोंको भोजन करावा, इस वाक्यमें परिव्राजकके ब्राह्मण होनेपर भी ब्राह्मण शब्द परिव्राजकसे इतर ब्राह्मणपरक है वैसे प्रकृतमें कर्म और चरणका परस्पर अमेद होनेपर भी इस न्यायसे कथञ्चित् भेदव्यपदेश होता है—यहां सामान्यवाची यथाकारीशब्द है और निरुपपदा आचारशब्दमें विशेष—सदाचार भासता है । अतः उक्त न्यायकी संगति है ।

[३ अनिष्टादिकार्यधिकरण सू० १२-२१]

चन्द्रं याति न वा पापी 'ते सर्व' इति वाक्यतः ।

पञ्चमाहुतिलाभार्थं भोगाभावेऽपि यात्यसौ ॥१॥

भोगार्थमेव गमनमाहुतिर्व्यभिचारिणी ।

सर्वश्रुतिः सुकृतिनां याम्ये पापिगतिः श्रुता* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—पाप कर्म करनेवाला चन्द्रलोकमें जाता है, या नहीं ?

पूर्वपक्ष—जाता है, क्योंकि 'ते सर्व' इत्यादि वाक्य है, यद्यपि वहाँ भोगका अभाव है तथापि पञ्चम आहुतिरूप प्रयोजनके लिए गति माननी पड़ेगी ।

सिद्धान्त—भोगके लिए ही स्वर्गमें गमन है और पञ्चम आहुतिमें व्यभिचार है, अतः 'ते सर्व' यह श्रुति सुकृतिपुरुषोंके लिए है, इससे पापी यमलोकमें जाता है, स्वर्गलोकमें नहीं ।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥

पदच्छेद—अनिष्टादिकारिणाम्, अपि, च, श्रुतम् ।

पदार्थोक्ति—[इदं पूर्वपक्षसूत्रम्] अनिष्टादिकारिणाम्—इष्टादिकर्म-शून्यानाम्, अपि श्रुतम्—'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति' इत्यादिश्रुत्या चन्द्रलोक-गमनं प्रतिपादितम्, च—अतः [इष्टादिकर्मकारिणो धार्मिका एव चन्द्रलोकं गच्छन्ति इत्येतदसङ्गतमिति सूत्रस्याभिप्रायः] ।

भाषार्थ—यह पूर्वपक्षसूत्र है, 'ये वै के च' इत्यादि श्रुतिसे इष्ट आदि कर्म नहीं करनेवालोंका भी चन्द्रलोकमें गमन श्रुत है, अतः धार्मिक पुरुष ही स्वर्गलोकमें जाते हैं, यह कथन असङ्गत है ।

* भाव यह है कि 'ये वै के चास्माल्लोकात्' इत्यादि श्रुतिसे ज्ञात होता है—चन्द्रलोक नामके स्वर्गमें पापकर्म करनेवाले भी जाते हैं । यद्यपि स्वर्गलोकमें पापी पुरुषोंका भोग नहीं है, तथापि पुनः शरीर-ग्रहणके लिए पञ्चम आहुतिके लाभार्थ स्वर्गगमन नितान्त अपेक्षित है ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—स्वर्गमें जानेका मुख्य प्रयोजन भोग ही है, पञ्चमाहुतिका लाभ नहीं, क्योंकि द्रोण आदिमें उसका व्यभिचार है । 'ते सर्व' इत्यादि श्रुति सुकृति-जनको विषय करती है और पापी जनोकी गति यमलोकमें श्रुत है—'वैवस्वतं संगमनम्' इत्यादिसे । इसलिये पापकर्म करनेवालोंकी स्वर्गलोकमें गति नहीं है ।

भाष्य

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसं गच्छन्तीत्युक्तम् । ये त्वितरेऽनिष्टादिकारिण-
स्तेऽपि किं चन्द्रमसं गच्छन्त्युत न गच्छन्तीति चिन्त्यते । तत्र तावदाहुः—
इष्टादिकारिण एव चन्द्रमसं गच्छन्तीत्येतत् न, कस्मात् ? यतोऽनिष्टादि-
कारिणामपि चन्द्रमण्डलं गन्तव्यत्वेन श्रुतम् । तथा ह्यविशेषेण कौषीतकिनः
समामनन्ति—‘ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति’

भाष्यका अनुवाद

इष्ट आदि कर्म करनेवाले चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा कहा गया है । परन्तु
दूसरे जो इष्टादि कर्म नहीं करनेवाले हैं, वे भी चन्द्रलोकमें जाते हैं या नहीं
जाते, इसका विचार किया जाता है ।

पूर्वपक्षी—इष्ट आदि करनेवाले ही चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा कोई नियम
नहीं है, किससे ? इससे कि इष्ट आदि न करनेवालोंके भी गन्तव्यरूपसे
चन्द्रमण्डलको श्रुति कहती है, क्योंकि कौषीतकी—कौषीतकी शास्त्रावाले बिना
विशेषके पढ़ते हैं—‘ये वै के च०’ (जो कोई इस लोकसे प्रयाण करते हैं,
वे सब चन्द्रमण्डलमें ही जाते हैं) इस प्रकार । पुनर्जन्म पानेवालोंकी

रत्नप्रभा

एवं पुण्यात्मनां गत्यागतिचिन्तया वैराग्यं निरूप्य पापिनां तच्चिन्तया
तन्निरूपयति—अनिष्टादिकारिणामपि चेति । ‘ये वै के च’ इत्यविशेषश्रुतेः
‘वैवस्वतं सङ्गमनं जनानाम्’ इति श्रुतेश्च संशये प्रथमाधिकरणेन सिद्धनियमा-
क्षेपसङ्ख्या पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे—तत्रेत्यादिना । यमराजं पापिजनानां सम्य-
ग्गम्यं, हविषा प्रीणयतेति श्रुत्यर्थः । पूर्वपक्षे पुण्यवतामेव चन्द्रगतिरिति नियमा-
भावात् पुण्यवैयर्थ्यं पापात् वैराग्यादार्ढ्यम् च इति फलम्, सिद्धान्ते पापिनां

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार पुण्यात्माओंकी गति और आगतिके विचारसे वैराग्यका निरूपण करके पापियोंकी
गति और आगतिके विचारसे वैराग्यका निरूपण करते हैं—“अनिष्टादिकारिणामपि” इत्यादिसे ।
‘ये वै के च’ इस अविशेष श्रुति तथा ‘वैवस्वतम् संगमनं जनानाम्’ इस श्रुतिसे भी संशय
होनेपर प्रथम अधिकरणसे सिद्ध नियमके आक्षेपरूप संगतिसे पूर्वपक्षसूत्रका व्याख्यान करते
हैं—“तत्र” इत्यादिसे । पापियोंके सम्यग्गम्य यमराजको हविषसे प्रसन्न करो, यह श्रुतिका अर्थ है ।
पूर्वपक्षमें पुण्यवान्की ही चन्द्रगति है, यह नियम न होनेसे पुण्य व्यर्थ है और पापसे
वैराग्यका अदृक्त्व फल है । सिद्धान्तमें पापियोंको चन्द्रलोकका दर्शन भी नहीं होता है, अतः

भाष्य

(कौषी० १ । २) इति । देहारम्भोपि च पुनर्जायमानानां नान्तरेण चन्द्रप्राप्तिमवकल्पते पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्यानियमात् , तस्मात्सर्व एव चन्द्रमसमासीदेयुः । इष्टादिकारिणामितरेषां च समानगतित्वं न युक्तमिति चेत् , न; इतरेषां चन्द्रमण्डले भोगाभावात् ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

वैहोत्पत्ति भी चन्द्रप्राप्तिके बिना नहीं हो सकती, क्योंकि 'पञ्चम्यामाहुतौ' (पांचवीं आहुतिमें) इस प्रकार आहुतिसंख्याका नियम है, इसलिए सभी चन्द्रलोकमें जाते हैं । इष्ट आदि कर्म करनेवाले की और नहीं करनेवाले की भी एकसी गति हो, यह ठीक नहीं है, यदि ऐसा कहो, तो युक्त नहीं है, क्योंकि अन्यके चन्द्रमण्डलमें भोगका अभाव है ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

चन्द्रलोकदर्शनम् अपि नास्ति इति पुण्यार्थवत्त्वं वैराग्यदार्ढ्यञ्चेति फलम् , पञ्चमाग्नौ देहारम्भ इति नियमात् पापिनामपि प्रथमद्युलोकाग्निप्राप्तिः वाच्या इत्याह— देहारम्भ इति । पापिनां स्वर्गभोगाभावेपि मार्गान्तराभावात् चन्द्रगतिः इति भावः ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुण्यका अर्थवत्त्व और वैराग्यका दृढ़त्व फल है । पांचवीं अग्निमें देहारम्भ है, ऐसा नियम होनेसे पापियोंकी प्रथम युलोकाग्निकी प्राप्ति है, ऐसा कहना चाहिए, ऐसा कहते हैं—“देहारम्भ” इत्यादिसे । पापियोंको स्वर्गका भोग नहीं होता, तो भी अन्य मार्गके न होनेसे चन्द्रमें गति है, ऐसा भाव है ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥

पदच्छेद—संयमने, तु, अनुभूय, इतरेषाम् , आरोहावरोहौ, तद्गतिदर्शनात् ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दप्रयोजनम्—पूर्वोक्तशङ्काविनाशः । संयमने—यमगृहे [स्वकीयदुष्कृत्यनुरूपा यामी यातनाः] अनुभूय—उपभुज्य [एव] इतरेषाम्—निषिद्धानुष्ठातृणाम्—आरोहावरोहौ—गत्यागती भवतः, कुतः ?] तद्गतिदर्शनात्—‘अयं लोको नास्ति’ इत्यादिश्रुतौ यमाधीनत्वलक्षणतद्गतेः दर्शनात् इत्यर्थः ।

भाषार्थ—पूर्वपक्षका निवारण करना इस सूत्रमें पठित तुशब्दका प्रयोजन है । यमगृहमें यमकी यातनाका अनुभव करके ही पापी जन गमनागमन करते हैं, क्योंकि ‘अयं लोको नास्ति’ इत्यादि श्रुतिमें यमाधीनत्वरूप तद्गतिका दर्शन है ।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्तीति । एतत्कस्मात् ? यतो भोगायैव हि चन्द्रारोहणं न निष्प्रयोजनम् । नापि प्रत्यवरोहायैव—यथा कश्चिद् वृक्षमारोहति पुष्पफलोपादानायैव न निष्प्रयोजनं नापि पतनायैव । भोगश्चानिष्टादिकारिणां चन्द्रमसि नास्तीत्युक्तम्, तस्मादिष्टादिकारिण एव चन्द्रमसमारोहन्ति नेतरे । ते तु संयमनं—यमालयमवगाह्य स्वदुष्कृतानुरूपा यामीर्यातना अनुभूय पुनरेवेमं लोकं प्रत्यवरोहन्ति । एवंभूतौ तेषामारोहावरोहौ भवतः । कुतः ? तद्वतिदर्शनात् । तथाहि—यमवचनसरूपा श्रुतिः प्रयतामनिष्टादिकारिणां यमवश्यतां दर्शयति—

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है, सब चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा नियम नहीं है । यह किससे ? इससे कि भोगके लिए ही चन्द्रमें आरोहण होता है, निष्प्रयोजन नहीं होता है, और केवल प्रत्यवरोहके लिए भी नहीं होता है । जैसे कोई पुरुष वृक्षपर आरोहण करता है—चढ़ता है, तो वह आरोहण पुष्प और फलके छानेके लिए ही है, निष्प्रयोजन नहीं है और गिरनेके लिए भी नहीं है । और भोग भी इष्ट आदि न करनेवालोंका चन्द्रलोकमें नहीं है, ऐसा कहा गया है, इसलिए इष्ट आदि करनेवाले ही चन्द्रमें आरोहण करते हैं, दूसरे नहीं । वे तो संयमन—यमालयमें प्रवेशकर अपने दुष्कृतोंके अनुसार यमयातनाका अनुभव करके फिर इस लोकमें प्रत्यवरोहण करते हैं—लौट आते हैं । इस प्रकार उनका आरोह और अवरोह होता है । किससे ? उनकी गतिके दर्शन होनेसे । क्योंकि यमवचनरूप श्रुति मरकर जानेवाले, इष्टादि न करनेवाले यमके अधीन हैं ऐसा दिखलाती है—“न सांपरायः प्रतिभाति० (अज्ञ वित्तसे मूढ़, प्रमाद करनेवालेको परलोकका

रत्नप्रभा

सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—तुशब्द इत्यादिना । संयमने—यमलोके यमकृताः यातनाः अनुभूय अवरोहन्तीत्येवमारोहावरोहाविति योजना सूत्रस्य ज्ञेया । प्रयताम्—

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्तसूत्रकी व्याख्या करते हैं—“तुशब्दः” इत्यादिसे । संयमनमें—यमलोकमें यमकृत यातनाका अनुभव करके अवरोहण करते हैं, ऐसा आरोह और अवरोह होता है, ऐसी

भाष्य

(कठ० २।६) इति । 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' इत्येवंजातीयकं च बह्वेव यमवश्यताप्राप्तिलिङ्गं भवति ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

उपाय नहीं सूझता, यह स्त्री, अन्न, पान आदि विशिष्ट लोक है, परलोक नहीं है, ऐसा मनन करनेवाला मेरे वशमें बार-बार आता है) इस प्रकारकी । और 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' (जिन लोगोंका यमालय संगमन-स्थान है) इस प्रकारके भी बहुतसे यमकी अधीनताकी प्राप्तिके लिंग हैं ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

मृत्वा गच्छताम् । सम्यक् परस्तात् प्राप्यत इति संपरायः—परलोकः, तदुपायः साम्परायः, बालम्—अज्ञम्, विशेषतो वित्तरागेण मूढं मोहात् प्रमादं कुर्वन्तं प्रति न भाति । स च बालोऽयं स्त्रीवित्तादिलोकोऽस्ति न परलोकोऽस्तीति मानी, स मे—मम यमस्य वशमाप्नोतीत्यर्थः । पापिनां यमवश्यतावादिविशेषश्रुतिस्मृतिबलाद् 'ये वै के च' [कौषी० १।२] इत्यविशेषश्रुतिरिष्टादिकारिविषयत्वेन व्याख्येयेति भावः ॥ १३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रकी योजना समझनी चाहिए । प्रयताम्—मरकर जानेवाले । सम्पराय—परलोक, साम्पराय—परलोकका उपाय, बाल—अज्ञ, विशेषतः वित्तरागसे मूढ़, प्रमाद करनेवालेको नहीं सूझता । और वह अज्ञ, 'यह स्त्री, वित्त आदि लोक है, परलोक नहीं है' ऐसा माननेवाला मेरे (यमके) वशमें आता है, ऐसा अर्थ है । 'पापी यमके वशमें हैं, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली विशेषश्रुति और स्मृतिके बलसे 'ये वै के च' यह अविशेषश्रुति इष्ट आदि कर्म करनेवालेके लिए ही है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए, यह भाव है ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥१४॥

पदच्छेद—स्मरन्ति, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि [मन्वादयः शिष्टाः स्मृतिकारा दुष्कृतिजनिजुषां नरकभोगम्] स्मरन्ति—स्वीयस्मृतिग्रन्थैः स्पष्टं कथयन्ति, [अतः इष्टादिकारिणः एव चन्द्रलोकं गन्तारः नान्ये इतिगूढाभिप्रायः] ।

भाषार्थ—और मनु प्रभृति प्रमुख स्मृतिकारोंने दुष्कृतिनरोंके नरकभोगका अपने स्मृतिग्रन्थ द्वारा प्रतिपादन किया है । अतः इष्टादिकारी ही चन्द्रलोकमें जाते हैं अन्य—पापी नहीं जाते, ऐसा सूत्रका अभिप्राय है ।

भाष्य

अपिच मनुव्यासप्रभृतयः शिष्टाः संयमने पुरे यमायत्तं कपूयकर्म-
विपाकं स्मरन्ति नाचिकेतोपाख्यानादिषु ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

और मनु, व्यास आदि शिष्टोंने संयमन—यमके नगरमें पापकर्मोंका विपाक—
यमके अधीन है, इस प्रकार नाचिकेत आदिके उपाख्यानोंमें स्मरण किया है ॥१४॥

अपि च सप्त ॥१५॥

पदच्छेद—अपि, च, सप्त ।

पदार्थोक्ति—अपि च—अन्यदपि सप्त—रौरवप्रमुखाः सप्तसङ्ख्यकाः नरकाः
[पापफलभूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैः, अतः सुकृतिन एव चन्द्रलोकाख्य-
पुण्यफलभूमेरधिकारिणः न दुर्मेधसो दुष्कृतिन इति भगवतः सूत्रकृतोऽभिप्रायः]

भाषार्थ—और भी पौराणिक लोग रौरव आदि सात नरक पापफलके उपभोगकी
भूमि कहते हैं, अतः पुण्यजन ही चन्द्रलोकके अधिकारी हैं, अन्य नहीं ।

भाष्य

अपिच सप्त नरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोगभूमित्वेन स्मर्यन्ते
पौराणिकैः, ताननिष्ठादिकारिणः प्राप्नुवन्ति । कुतस्ते चन्द्रं प्राप्नुयुः
इत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

और रौरव आदि सात नरकोंका दुष्कृतफलके उपभोगकी भूमिके रूपसे
पौराणिक स्मरण करते हैं । उन नरकोंको इष्टादि न करनेवाले प्राप्त करते हैं,
वे चन्द्रलोकको कैसे प्राप्त करें ? ऐसा अभिप्राय है ॥१५॥

१ रौरवादिमें आदिशब्दसे महारौरव, वह्नि, वैतरणी, कुम्भी, तामिस्रा और अन्धतामिस्राका
ग्रहण करना चाहिये । अनिष्ठादिकारी लोग इन्हीं सात नरकोंमें जाते हैं, चन्द्रलोकमें नहीं जाते हैं
इसीलिए मनु आदि स्मृतिकारोंने अनिष्ठादि कर्म करनेवालोंके नरकमें ही गमनका यत्र तत्र प्रतिपादन
किया है, तथा पुराणोंमें भी उपलब्ध होता है, जैसे—कूट साक्षी तथाऽसम्यक् पक्षपातेन यो वदेत् ।
यश्चान्यदनृतं वक्ति स नरो याति रौरवम् ॥ भ्रूणहृत् पुरहर्ता च गोघ्नश्च मुनिसत्तमाः १, यागति ते नरके
घोरे यश्चोच्छ्वासनिरोधकः ॥ इत्यादि ।

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥१६॥

पदच्छेद—तत्र, अपि, च, तद्व्यापारात्, अविरोधः ।

पदार्थोक्ति—[ननु एतदयुक्तमिव—पापभाजो यामीर्यातना उपभुञ्जते इति, रौरवप्रभृतिषु नरकेषु चित्रगुप्तादीनामधिष्ठातृत्वस्य शास्त्रेषु प्रसिद्धत्वादिति चेन्न] तत्र अपि—रौरवादिष्वपि [चित्रगुप्तादीनां यमायत्तत्वेन] तद्व्यापारात्—यमाधिष्ठातृत्वव्यापारात्, च—अतः, अविरोधः—न यामीयातनाविरोध इति ।

भाषार्थ—पापी लोग यमकी यातना भोगते हैं, यह अयुक्त है, क्योंकि 'चित्रगुप्त आदिका ही रौरव आदिमें शासन है, यह शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है, यदि ऐसा कहा जाय, तो युक्त नहीं है, इसलिए कि वहाँ रौरव आदिमें भी यमप्रयुक्त ही चित्रगुप्त आदिका शासन है, अतः विरोध नहीं है ।

भाष्य

ननु विरुद्धमिदं—यमायत्ता यातनाः पापकर्माणोऽनुभवन्ति-इति । यावता तेषु रौरवादिष्वन्ये चित्रगुप्तादयो नानाधिष्ठातारः स्मर्यन्ते इति । नेत्याह—

तेष्वपि सप्तसु नरकेषु तस्यैव यमस्याधिष्ठातृत्वव्यापाराभ्युपगमादविरोधः । यमप्रयुक्ता एव हि ते चित्रगुप्तादयोऽधिष्ठातारः स्मर्यन्ते ॥ १६ ॥

भाष्यका अनुवाद

परन्तु यमके अधीन यातनाका पाप करनेवाले अनुभव करते हैं, यह विरुद्ध है, क्योंकि इन रौरव आदि नरकोंमें अन्य चित्रगुप्त आदि भिन्न-भिन्न अधिष्ठाता कहे गये हैं । नहीं, ऐसा कहते हैं—

उन सात नरकोंमें भी उस यमके ही अधिष्ठातृत्वरूपसे व्यापारका अभ्युपगम है, अतः विरोध नहीं है । क्योंकि यमसे प्रयुक्त ही वे चित्रगुप्त आदि अधिष्ठातृत्वरूपसे स्मरण किये गये हैं ॥१६॥

रत्नप्रभा

सूत्रत्रयस्य भाष्यं सुबोधम् ॥१४॥१५॥१६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तीन ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ सूत्रोंका भाष्य सुबोध—स्पष्ट है ।

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥

पदच्छेद—विद्याकर्मणोः, इति, तु, प्रकृतत्वात् ।

पदार्थोक्ति—[‘अथैतयोः पथोर्न’ इत्यादि श्रुतौ ‘एतयोः’ शब्देन] विद्याकर्मणोरिति [गृह्यते कुतः ?] प्रकृतत्वात्—तयोर्विद्याकर्मणोरेव देवयान-पितृयाणात्मकमार्गद्वयसाधनत्वेन प्रकृतत्वात् । तुशब्दो ह्यत्र ‘चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति’ इति श्रुतिसंजातशङ्कां विच्छिनत्ति ।

भाषार्थ—‘अथैतयोः पथोर्न’ इत्यादि श्रुतिमें ‘एतयोः’ शब्दसे विद्या और कर्म इन दोनोंका ही ग्रहण होता है, क्योंकि उन्हींका, देवयानपितृयाणरूप दो मार्गके साधनरूपसे कथन है । तु-शब्दसे ‘चन्द्रमसमेव’ इत्यादिशास्त्रसे प्राप्त शङ्काका निरास होता है ।

भाष्य

पञ्चाग्निविद्यायाम् ‘वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यते’ (छा० ५।३।३) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे श्रूयते—अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति, जायस्व प्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते’ (छा० ५।१०।८) इति ।

भाष्यका अनुवाद

पञ्चाग्निविद्यामें ‘वेत्थ यथाऽसौ लोको’ (यह लोक जिस कारण नहीं भरता, क्या वह तू जानता है ?) इस प्रश्नके प्रतिवचन—उत्तरके अवसरमें—‘अथैतयोः पथोर्न’ (पीछे, इन दोनों विद्या और कर्मके मार्गोंके साधनोंमें किसी एक भी साधनसे जो नर युक्त नहीं हैं, वे ये क्षुद्र जीव [दंश, मशक,

रत्नप्रभा

यदुक्तं मार्गान्तराभावात् पापिनाम् अपि चन्द्रगतिः इति । तत्र । तृतीयमार्गश्रुतेः इत्याह—विद्याकर्मणोरिति । मार्गद्वितयोक्त्यनन्तरं तृतीयमार्गोक्तिसमारम्भार्थं श्रुतौ अथशब्दः । एतयोर्विद्याकर्मणोः पथिद्वयसाधनयोः अन्यतरेणापि साधनेन ये नरा न युक्ताः, ते जन्ममरणवृत्तिरूपतृतीयमार्गस्थानि

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य मार्ग न होनेके कारण, पापी भी चन्द्रलोकमें ही जाते हैं, ऐसा जो कहा गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि तृतीय मार्गकी श्रुति है [श्रुतिमें तृतीय मार्ग है], ऐसा कहते हैं—“विद्याकर्मणोः” इत्यादिसे । दो मार्गोंके कथनके अनन्तर, तृतीय मार्गकी उक्तिके प्रारम्भके लिए श्रुतिमें अथशब्द है । विद्या और कर्म वे दो मार्गके (उत्तर और दक्षिण मार्गके)

भाष्य

तत्रैतयोः पथोरिति विद्याकर्मणोरित्येतत् । कस्मात् ? प्रकृतत्वात् । विद्या-
कर्मणी हि देवयानपितृयाणोः पथोः प्रतिपत्तौ प्रकृते—‘तद्य इत्थं विदुः’
इति विद्या तथा प्रतिपत्तव्यो देवयानः पन्थाः प्रकीर्तितः । इष्टापूर्ते
दत्तम्’ (छा० ५।१०।१, ३) इति कर्म तेन प्रतिपत्तव्यः पितृयाणः पन्थाः
प्रकीर्तितः । तत्प्रक्रियायाम्—‘अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन’ इति श्रुतम् ।
एतदुक्तं भवति—ये च न विद्यासाधनेन देवयाने पथ्यधिकृता नापि कर्मणा
पितृयाणे तेषामेष क्षुद्रजन्तुलक्षणोऽसकृदावर्ती तृतीयः पन्था भवतीति ।

भाष्यका अनुवाद

कीट आदि] बार-बार आवर्तन करनेवाले होते हैं—जन्म लेते और मरते
रहते हैं, वह यह तीसरा स्थान है, इसलिए यह लोक नहीं भरता) इस प्रकारकी
श्रुति है । उसमें उन दोनों मार्गोंके अर्थात् विद्या और कर्मके । किससे ? प्रकृत होनेसे ।
क्योंकि विद्या और कर्म ये देवयान और पितृयानकी प्राप्तिके साधनमें प्रकृत हैं ।
‘तद्य इत्थं विदुः’ (इनमें जो इस प्रकार जानते हैं) यह विद्या है उससे प्राप्तव्य
देवयान मार्ग कहा गया है । ‘इष्टापूर्ते दत्तम्’ (इष्ट, पूर्त, और दत्त) अर्थात्
कर्म, उससे प्राप्तव्य पितृयान मार्ग कहा गया है । उसके प्रकरणमें ‘अथैतयोः
पथोर्न०’ (और इन दोनों मार्गोंमें किसी एक भी मार्गसे) इस प्रकार श्रुतिमें
कहा गया है । तात्पर्य यह है कि—जो विद्यासाधन द्वारा देवयान मार्गमें अधि-
कृत नहीं हैं, और कर्म द्वारा पितृयानमें भी अधिकृत नहीं हैं, उनका ही क्षुद्र-
जन्तुरूप जिसमें बार-बार आवर्तन करना पड़ता है यह तीसरा मार्ग होता है ।

रत्नप्रभा

भूतानि भवन्ति । क्रियावृत्तौ लोद्, तेन पापिनां चन्द्रगत्यभावात् चन्द्रलोकः
न संपूर्यत इति श्रुत्यर्थः । प्रतिपत्ताविति । प्राप्तिसाधने इत्यर्थः । अपि च पापिनां
चन्द्रगतौ ‘असौ लोकः सम्पूर्येत, अतश्च न सम्पूर्यते’ इत्येतत्प्रतिवचनं विरुद्धं
प्रसज्येत इति अन्वयः । अवरोहात् असम्पूरणम् अश्रुतं न कल्प्यम्, श्रुतहान्यापत्तेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

साधन हैं, इन दोनोंमेंसे अगर एक साधनसे भी जो युक्त नहीं, हैं, वे सर्प, कीट आदि
जन्ममरणकी आवृत्तिरूप जो तृतीय मार्ग है उसमें रहनेवाले भूत होते हैं तथा पुनः पुनः
जन्म लेते और मरते रहते हैं । ‘जायस्व भ्रियस्व’ इसमें लोदलकार क्रियाकी आवृत्तिमें है,
इसलिए पापियोंकी चन्द्रगतिके अभावसे चन्द्रलोक नहीं भरता, ऐसा श्रुतिका अर्थ है ।
“प्रतिपत्तौ” इत्यादि । प्राप्तिके साधन हैं, यह अर्थ है । और पापियोंकी भी चन्द्रलोकमें गति

भाष्य

तस्मादपि नानिष्टादिकारिभिश्चन्द्रमाः प्राप्यते । स्यादेतत्—तेऽपि चन्द्र-
बिम्बमारुह्य ततोऽवरुह्य क्षुद्रजन्तुत्वं प्रतिपत्स्यन्त इति । तदपि नास्ति ।
आरोहानर्थक्यात् । अपि च सर्वेषु प्रयत्सु चन्द्रलोकं प्राप्नुवत्स्वसौ लोकः
प्रयद्भिः संपूर्येतेत्यतः प्रश्नविरुद्धं प्रतिवचनं प्रसज्येत । तथाहि प्रतिवचनं
दातव्यम्, यथाऽसौ लोको न संपूर्यते । अवरोहाभ्युपगमादसंपूर्णोपपत्तिरिति
चेत्, न; अश्रुतत्वात् । सत्यम्, अवरोहादप्यसंपूरणमुपपद्यते । श्रुतिस्तु
तृतीयस्थानसंकीर्तनेनासंपूरणं दर्शयति—‘एतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको
न संपूर्यते’ (छा० ५।१०।८) इति । तेनानारोहादेवासंपूरणमिति युक्तम् ।
अवरोहस्येष्टादिकारिष्वप्यविशिष्टत्वे सति तृतीयस्थानोक्त्यानर्थक्यप्रसङ्गात् ।

भाष्यका अनुवाद

इससे भी इष्ट आदि न करनेवालोंसे चन्द्र प्राप्त नहीं होता । परन्तु वे भी चन्द्र-
बिम्बमें आरुढ़ होकर उससे अवरोहण करके क्षुद्रजन्तुत्व प्राप्त करेंगे । वह भी
नहीं है, क्योंकि इसमें आरोहका आनर्थक्य है । और सब प्रयाण करनेवाले—
सरकर जानेवाले यदि चन्द्रलोक ही प्राप्त करें, तो यह चन्द्रलोक प्रयाण करने-
वालोंसे भर जायगा, अतः प्रश्नविरुद्ध प्रतिवचन प्रसक्त होगा । क्योंकि ‘जिस
प्रकार यह लोक नहीं भरता’ इस प्रकार प्रतिवचन दातव्य है । अवरोह स्वीकार
करनेसे असंपूर्णताकी उपपत्ति होगी, यदि ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते,
क्योंकि श्रुतिमें नहीं है । सच्ची बात यह है कि—अवरोहसे भी असंपूर्णता उपपन्न
होती है । परन्तु श्रुति तो तृतीय स्थानके संकीर्तनसे असंपूर्णता दिखलाती है—
‘एतत् तृतीयं स्थानम्०’ (यह तीसरा स्थान है, इसलिये यह लोक नहीं भरता)

रत्नप्रभा

इत्याह—नाश्रुतत्वादिति । अवरोह एव तृतीयं स्थानं श्रुत्युक्तम् इत्यत आह—
अवरोहस्येति । इममध्वानं पुनर्निवर्तन्त इति इष्टादिकारिणाम् अवरोहोक्तेः अनि-
ष्टादिकारिणाम् अपि अवरोहस्य अर्थसिद्धत्वात् पुनरुक्तिः व्यर्थेत्यर्थः ‘अथैतयोः’

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेपर वह चन्द्रलोक विल्कुल भर जायगा, अतः ‘वह चन्द्रलोक नहीं भरता’ यह प्रतिवचन
भी विरुद्ध प्रसक्त होगा, ऐसा अन्वय है । अवरोह ही तृतीय स्थान श्रुतिमें कहा गया है,
इसपर कहते हैं—“अवरोहस्य” इत्यादि । इस मार्गसे फिर पीछे लौटते हैं, ऐसा इष्ट आदि
कर्म करनेवालोंके लिए अवरोह कहा गया है, इससे इष्ट आदि न करनेवालोंका भी अवरोह

भाष्य

तुशब्दस्तु शाखान्तरीयवाक्यप्रभवामशेषगमनाशङ्कामुच्छिनत्ति, एवं सत्य-
धिकृतापेक्षः शाखान्तरीये वाक्ये सर्वशब्दोऽवतिष्ठते—ये वै केचिदधिकृता
अस्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति—इति ॥१७॥

यत्पुनरुक्तम्—देहलाभोपपत्तये सर्वे चन्द्रमसं गन्तुमर्हन्ति, पञ्चम्यामा-
हुतावित्याहुतिसंख्यानियमात्—इति, तत्प्रत्युच्यते—

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार । इसलिये अनारोहसे ही असंपूर्ण है, यह युक्त है । क्योंकि इष्ट आदि करनेवालों में भी अवरोह अविशिष्ट होनेसे तृतीय स्थानकी उक्तिके अनर्थक होनेका प्रसंग आवेगा । तुशब्द तो अन्य शाखाके वाक्यसे उत्पन्न हुई सबके गमन-की आशंकाका उच्छेद करता है । ऐसा प्राप्त होनेपर अन्य शाखाके वाक्यमें सर्वशब्द अधिकारीकी अपेक्षा रखता है—‘जो कोई अधिकृत हुए इसलोकसे प्रयाण करते हैं वे सब चन्द्रमें ही जाते हैं, इस प्रकार ॥१७॥

और देहलाभकी उपपत्तिके लिए सब चन्द्रलोकमें जा सकते हैं, क्योंकि ‘पञ्चम्यामाहुतौ’ (पांचवीं आहुतिमें) ऐसा आहुतिसंख्याका नियम है, ऐसा जो कहा गया है, उसके प्रति कहते हैं—

रत्नप्रभा

इति मार्गान्तरोपक्रमबाधः तृतीयशब्दबाधश्चेत्यतः स्थानशब्दो मार्गलक्षक इति द्रष्टव्यम् ॥१७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ सिद्ध होनेसे [तृतीय स्थानरूपसे अवरोहकी] पुनरुक्ति व्यर्थ है, ऐसा अर्थ है । ‘अथैतयोः’ इसमें अन्य मार्गके उपक्रमका बाध है, अतः स्थानशब्द यहाँ मार्गलक्षक है, ऐसा समझना चाहिए ॥१७॥

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥१८॥

पदच्छेद—न, तृतीये, तथा, उपलब्धेः ।

पदार्थोक्ति—तृतीये—तृतीयमार्गे [प्रविष्टानां पापिनां देहप्राप्त्यर्थम् आहुतिसंख्यानियमः] न—न भवति, [कुतः ?] तथोपलब्धेः—‘जायस्व म्रियस्व’ इत्यादिश्रुतौ संख्यानियमं विनैव तृतीये मार्गे देहप्राप्तेरुपलब्धेः [इत्यर्थः, अतश्चेष्टादिकारिणामेवायं संख्यानियम इति भावः]

भाषार्थ—तृतीय मार्गमें प्रविष्ट पापी लोग देह प्राप्तिके लिए आहुतिसंख्याके नियमसे बद्ध नहीं हैं, क्योंकि ‘जायस्व म्रियस्व’ इत्यादि श्रुतिमें संख्या नियमके बिना ही देहप्राप्ति की उपलब्धि है । अतः आहुतिसंख्याका नियम इष्ट आदि करनेवालोंके लिए ही है, ऐसा भाव है ।

भाष्य

न तृतीये स्थाने देहलाभाय पञ्चसंख्यानियम आहुतीनामादर्थव्यः । कुतः ? तथोपलब्धेः । तथाहि अन्तरेणैवाहुतिसंख्यानियमं वर्णितेन प्रकारेण तृतीयस्थानप्राप्तिरुपलभ्यते 'जायस्व त्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्' (छा० ५।१०।८) इति । अपिच 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति मनुष्यशरीरहेतुत्वेनाहुतिसंख्या कीर्त्यते, न कीट-पतङ्गादिशरीरहेतुत्वेन, पुरुषशब्दस्य मनुष्यजातिवचनत्वात् । अपिच पञ्च-म्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वमुपदिश्यते नापञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वं प्रति-

भाष्यका अनुवाद

तृतीय स्थानमें देहलाभके लिए आहुतिकी पंचसंख्याके नियमका आदर करना ठीक नहीं है । किससे ? वैसा उपलब्ध होनेसे । क्योंकि आहुतिसंख्याके नियमके बिना भी वर्णन किये गये प्रकारसे तृतीय स्थानकी प्राप्ति उपलब्ध होती है—'जायस्व त्रियस्व०' (पुनः पुनः जन्म लो और मरा करो, यह तृतीय स्थान है) इस प्रकार । और 'पंचम्यामाहुतौ०' (पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषसंज्ञक होता है) इस प्रकार मनुष्यशरीरके हेतुरूपसे आहुतिकी संख्या कही गई है कीट, पतंग आदि शरीरोंके हेतुरूपसे नहीं, क्योंकि पुरुषशब्द मनुष्यजाति-वाचक है । उसी प्रकार 'पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषसंज्ञक होता है' ऐसा उपदेश किया जाता है 'पांचवीं आहुति नहीं होनेपर जल पुरुषसंज्ञक नहीं होता, ऐसा

रत्नप्रभा

एवम् अविशेषश्रुतेर्मार्गान्तराभावात् चेति पूर्वपक्षबीजद्वयं निरस्य तृतीयबीज-निरासार्थं सूत्रमादत्ते—यत्पुनरित्यादिना । विद्याकर्मशून्यानां कृमिकीटा-दिभावेन 'जायस्व' [छा० ५ । १० । ८] इत्यादिश्रुत्या निरन्तरजन्ममरणोप-लब्धेर्नाहुतिसंख्यादर इत्यर्थः । पुरुषशब्दाच्चैवमित्याह—अपि चेति । मनुष्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार 'अविशेषश्रुतिसे' और अन्य मार्गके अभावसे इन दो पूर्वपक्षबीजोंका निरसन कर तृतीय बीजका निरसन करनेके लिए सूत्रकी अवतरणिका देते हैं—“यत्पुनः” इत्यादिसे । विद्या और कर्मसे शून्यवालोंका कृमि कीटादिभावसे पुनः पुनः जन्म-मरण होता है, क्योंकि 'जायस्व' इत्यादि श्रुतिसे निरन्तर 'जन्म और मरणकी उपलब्धि होती है, अतः आहुति संख्यामें आदर नहीं है, ऐसा अर्थ है । पुरुषशब्दसे भी ऐसा है—इसे कहते हैं—“अपि च” इत्यादिसे । मनुष्य देहमें आहुतिसंख्याका नियम नहीं है ऐसा कहते हैं—

भाष्य

विध्यते, वाक्यस्य द्वयर्थतादोषात् । तत्र येषामारोहावरोहौ संभवतस्तेषां पञ्चम्यामाहुतौ देह उद्भविष्यति, अन्येषां तु विनैवाहुतिसंख्यया भूतान्तरोपसृष्टाभिरद्भिर्देह आरप्स्यते ॥१८॥

भाष्यका अनुवाद

प्रतिषेध नहीं किया जाता, क्योंकि वाक्यमें द्वयर्थ होनेका दोष आवेगा । उसमें जिनका आरोह और अवरोह हो सकता है, उनका देह पांचवीं आहुतिमें उत्पन्न होगा, और दूसरोंका देह तो आहुतिसंख्याके बिना ही अन्य भूतोंसे उपसृष्ट जलसे उत्पन्न होमा ॥ १८ ॥

रत्नप्रभा

देहस्याऽपि नाहुतिसंख्यानियम इत्याह—अपि चेत्यादिना । विधिनिषेधरूपार्थद्वये वाक्यभेदः स्यात् इत्यर्थः ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

“अपि च” इत्यादिसे । विधि और निषेधरूप दो अर्थ लेनेमें वाक्यभेद होगा, ऐसा अर्थ है ॥१८॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥१९॥

पदच्छेद—स्मर्यते, अपि, च, लोके ।

पदार्थोक्ति—अपि च लोके—भारतादौ* द्रोणधृष्टद्युम्नादीनामयोजित्वम्—स्मर्यते—स्मृतिपथं भवति [तत्र द्रोणादेः योषिदाहुतिर्न धृष्टद्युम्नादीनाञ्च योषित्पुरुषविषये द्वे आहुती न भवतः, अतः आहुतिसंख्यानियमव्यभिचारः, तथान्यत्रापीति भावः ।

भाषार्थ—भारत आदि ग्रन्थोंमें द्रोण, धृष्टद्युम्न आदि अयोजित हैं, ऐसा प्रसिद्ध है, उसमें द्रोणादिकी योषित् में आहुति नहीं है और धृष्टद्युम्न आदिकी स्त्रीपुरुषविषयक दो आहुतियाँ नहीं हैं अतः आहुतिसंख्याका नियम नहीं है ।

* द्रोणकी उत्पत्ति कलशसे—यक्षपात्रविशेषसे हुई है, क्योंकि द्रोण-कलश उत्पत्ति स्थान है जिसका, इस अर्थमें अच् प्रत्यय है—इसका महाभारतमें यों स्मरण है—व्यपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषि-श्चक्रे ततः, तत्र संयुक्तमनसो भारद्वाजस्य धीमतः, ततोऽस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिद्रोण आदधे । ततः समभवद्द्रोणः कलशे तस्य धीमतः । तथा धृष्टद्युम्नके बारेमें भी—तथैव धृष्टद्युम्नोऽपि साक्षादग्निमभ्युतिः, वैताने कर्मणि तात ! पाषकात् समजायत । इत्यादि महाभारतमें उपलब्ध होता है ।

भाष्य

अपिच स्मर्यते लोके द्रोणधृष्टद्युम्नप्रभृतीनां सीताद्रौपदीप्रभृतीनां चायोनिजत्वम् । तत्र द्रोणादीनां योषिद्विषयकाहुतिर्नास्ति । धृष्टद्युम्नादीनां तु योषित्पुरुषविषये द्वे अप्याहुती न स्तः । यथा च तत्राहुतिसंख्या नियमानादरो भवत्येवमन्यत्रापि भविष्यति । बलाकाप्यन्तरेणैव रेतःसेकं गर्भं धत्त इति लोकरूढिः ॥१९॥

भाष्यका अनुवाद

और द्रोण, धृष्टद्युम्न आदि तथा सीता, द्रौपदी आदि अयोनिज ही हैं, ऐसा लोकमें स्मरण है । वहां द्रोणादिमें स्त्रीविषयिका एक आहुति नहीं है, धृष्टद्युम्न आदिमें तो स्त्रीविषयक और पुरुषविषयक ये दोनों आहुतियां नहीं हैं । जिस प्रकार वहां आहुतिसंख्याका अनादर है, उसी प्रकार अन्यत्र भी होगा । बलाका भी बिना रेतःसेकके ही गर्भ धारण करती है, ऐसी लोकरूढि है ॥ १९ ॥

रत्नप्रभा

अनियमे स्मृतिसंवादार्थं सूत्रम्—स्मर्यतेऽपीति । लोक्यतेऽनेनेति लोकः भारतादिरुक्तः । मुख्यार्थम् अपि आह—बलाकेति ॥ १९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनियम—मनुष्यदेहकी उत्पत्तिमें आहुतिसंवादका कोई नियम नहीं है, ऐसी स्थितिमें स्मृतिसंवादके लिए सूत्र दिखलाते हैं—“स्मर्यतेऽपि” इत्यादि । जिससे देखा जाता है वह लोक अर्थात् महाभारत आदि इतिहास [लोक शब्दसे] कहा गया है । लोक शब्दका मुख्य अर्थ भी कहते हैं—“बलाका” इत्यादिसे ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥२०॥

पदच्छेद—दर्शनात्, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि [लोके जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जेषु चतुर्विधेषु देहेषु स्वेदजोद्भिज्जयोः स्त्रीपुंसव्यक्तिसंयोगं विना एवोत्पत्तिदर्शनाच्चाहुतिसंख्यानियम इत्यर्थः]

भाषार्थ—लोकमें जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज, इस प्रकारके चतुर्विध देहोंमें स्वेदज और उद्भिज्जकी स्त्री और पुरुषके संयोगके बिना ही उत्पत्ति देखनेमें आती है, अतः आहुतिसंख्याका नियम नहीं है,

[४ साभाव्यापत्त्यधिकरण सू० २२]

वियदादिस्वरूपत्वं तत्साम्यं वावरोहिणः ।

वायुर्भूत्वेत्यादिवाक्यात् तत्तद्भावं प्रपद्यते ॥१॥

स्ववत्सूक्ष्मो वायुवशो युक्तो धूमादिभिर्भवेत् ।

अन्यस्यान्यस्वरूपत्वं न मुख्यमुपपद्यते* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—स्वर्गसे अवरोह करनेवाले जीव वियदादिके स्वरूपको प्राप्त होते हैं अथवा उनकी साम्यताको ?

पूर्वपक्ष—वायुर्भूत्वा इत्यादि वाक्यसे वियदादिस्वरूप होते हैं ।

सिद्धान्त—अन्य अन्यका स्वरूप नहीं हो सकता है, अतः आकाशादिकी प्रतिपत्तिसे आकाशके समान सूक्ष्म, वायुवश और धूम आदिसे सम्बद्ध ही विवक्षित है ।

साभाव्यापत्तिरूपपत्तेः ॥२२॥

पदच्छेद—साभाव्यापत्तिः, उपपत्तेः ।

पदार्थोक्ति—[जीवानाम्] साभाव्यापत्तिः—[तैः आकाशादिभिः] साभाव्यापत्तिः—समानः भावः—रूपं येषां ते सभावाः, तेषां भावः साभाव्यं-सादृश्यम्—तस्य आपत्तिः प्राप्तिः, [कुतः ?] उपपत्तेः—चन्द्रलोकं गतानामनुशयिनां प्रवृत्त-फलकर्मक्षयदर्शनजनितशोकाग्निना दह्यमानमिदं शरीरं करकादिवत् विलीयमान-माकाशसमं भवतीति—एतदुपपद्यते, [नहि अन्यस्यान्यभावो मुख्य उपपद्यते, तस्मात् सादृश्यमेव प्रतिपद्यन्त इति सिद्धम्] ।

भाषार्थ—जीवोंका उन आकाश आदिके साथ साभाव्यापत्ति—सादृश्य ही है, क्योंकि उपपत्ति है—चन्द्रलोकमें गये हुए अनुशयी जीवोंके फलोपभोगके अनन्तर कर्मक्षयके दर्शनसे उत्पन्न शोकाग्नि द्वारा दृश्यमान शरीर बरफके समान गलता हुआ आकाशके समान होता है, अन्यका अन्यभाव मुख्य नहीं हो सकता है, इससे सादृश्य-को ही प्राप्त होते हैं, ऐसा सिद्ध हुआ ।

*भाव यह है कि पूर्वपक्षों कहता है—स्वर्गसे अवरोहका क्रम इस प्रकार सुना जाता है—‘अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशम्’ इत्यादिसे । यहाँ स्वर्गसे उतरनेवाला जीव आकाशादि रूप ही हो जाता है, क्योंकि ‘वायुर्भूत्वा’ इत्यादि वाक्य तद्भाव—तद्रूपताका ही बोधन करते हैं, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—अन्यमें अन्यकी स्वरूपताके सम्भव न होनेसे आकाश-प्रतिपत्तिसे आकाशके समान सूक्ष्म, ऐसा अर्थ विवक्षित है, वायुभावसे वायुवशता, और धूमादिभाव माने धूमादिसे सम्पर्क, ऐसा निर्णय है, अतः पूर्वपक्ष असङ्गत है ।

भाष्य

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसमारुह्य तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वा ततः सानुशया अवरोहन्तीत्युक्तम् । अथावरोहप्रकारः परीक्ष्यते । तत्रेयमवरोहश्रुतिर्भवति—
'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वा अभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति'

भाष्यका अनुवाद

इष्ट आदि करनेवाले चन्द्रमें समारोहण करके उसमें कर्मफल स्वर्गसुखभोग पर्यन्त रहकर वहांसे अनुशयसहित अवरोहण करते हैं, ऐसा कहा गया है । अब अवरोहप्रकारकी परीक्षा की जाती है । वहां यह अवरोह श्रुति है—
'अथैतमेवाध्वानम्०' (पीछे इसी मार्गसे फिर लौटता है, जैसे गया था वैसे ही

रत्नप्रभा

एवं पापिनां गत्यागती विचार्य सम्प्रतीष्टादिकारिणामवरोहे विशेषमाह—
साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः । 'यथेतमनेवं च' इत्युक्तरीत्या यथागतं धूमाद्यध्वानं पुनर्निवर्तन्ते, निवृत्ताश्चानुशयिनः कर्मान्ते द्रुतदेहाः आकाशं गताः आकाशसदृशा भवन्ति । आकाशसादृश्यानन्तरं पिण्डीकृतातिसूक्ष्मलिङ्गोपहिताः वायुना इतस्ततश्च नीयमाना वायुसमा भवन्ति । सानुशयः सद्यो वायुसमो भूत्वा धूमं गतः तत्समो भवति, धूमसमो भूत्वा अभ्रसमो भवति । अपो विभ्रतीत्यभ्रम् । मेहति—
सिञ्चतीति वृष्टिकर्ता मेघः तत्समो भूत्वा वर्षधाराद्वारा पृथिवीमुपविश्य ब्रीहिय-
वादिरूपो भवतीति सिद्धान्तगत्या श्रुत्यर्थः । पूर्वोत्तरयुक्तिद्वयं संशयबीजं
मन्तव्यम् । पूर्वत्र मार्गद्वयमुक्त्वा तृतीयत्वोक्तैर्युक्तं स्थानशब्दस्य मार्गलक्षकत्वम् ,

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार पापियोंकी गति और आगतिका विचार करके इष्ट आदि करनेवालोंके अवरोहमें विशेष कहते हैं—“साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः” । 'यथेतमनेवं च' (जैसे गया था वैसे नहीं—विपरीत ढंगसे) इस उक्त रीतिसे जैसे गये थे वैसे ही धूमादि मार्गसे पीछे लौटते हैं और निवृत्त—लौटे हुए अनुशयी जीव कर्मके अन्तमें द्रवीभूत—पिघले हुए देहवाले आकाशमें जाकर तत्सदृश हो जाते हैं । आकाशसादृश्यके अनन्तर पिण्डीकृत होकर अतिसूक्ष्म लिंगसे उपहित वायुद्वारा इधर उधर नीयमान होनेसे वायुसम होते हैं । वह अनुशयी जीव तत्क्षण वायुसम होता हुआ धूमको प्राप्तकर तत्सदृश होता है । धूमतुल्य होकर अभ्रतुल्य होता है । अप अर्थात् जलको जो धारण करे, वह अभ्र, 'मेहति' अर्थात् जो सिंचन करता है, वह वृष्टिकर्ता मेघ, तत्सम होकर वृष्टिधाराद्वारा पृथिवीमें प्रवेश करके ब्रीहियवादिरूप होता है, इस प्रकार सिद्धान्तकी गतिके अनुसार श्रुतिका अर्थ है । पूर्वोत्तर दो युक्तियोंको संशयका बीज समझना

भाष्य

(छा० ५।१०।५) इति । तत्र संशयः—किमाकाशादिस्वरूपमेवावरोहन्तः प्रतिपद्यन्ते किंवाऽऽकाशादिसाम्यमिति । तत्र प्राप्तं तावत्—आकाशादि-स्वरूपमेव प्रतिपद्यन्त इति । कुतः ? एवं हि श्रुतिर्भवति । इतरथा लक्षणा स्यात् । श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा । तथा च वायुर्भूत्वा धूमो भवतीत्येवमादीन्यक्षराणि तत्तत्स्वरूपोपपत्तावाञ्जस्येनावकल्पन्ते । तस्मादाकाशादिस्वरूपप्रतिपत्तिरिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आकाशादिसाम्यं प्रतिपद्यन्त इति । चन्द्र-मण्डले यदम्भयं शरीरमुपभोगार्थमारब्धं तदुपभोगक्षये सति प्रवि-लीयमानं सूक्ष्ममाकाशसमं भवति ततो वायोर्विशमेति ततो धूमा-

भाष्यका अनुवाद

आकाशमें लौटता है, आकाशसे वायुमें, वायु होकर धूम होता है, धूम होकर अन्न होता है, अन्न होकर मेघ होता है, मेघ होकर जलरूपमें पृथिवीपर गिरता है) उसमें संशय है कि अवरोहण करनेवाला क्या आकाशादिस्वरूप ही प्राप्त करता है, या आकाशादिसाम्य ? उसमें आकादिस्वरूप ही प्राप्त करता है, ऐसा प्राप्त होता है । किससे ? इससे कि इसी प्रकारकी श्रुति है, नहीं तो लक्षणा होगी । श्रुति और लक्षणाके संशयमें श्रुति न्याय्य है, लक्षणा नहीं । उसी प्रकार 'वायुर्भूत्वा धूमो भवति (वायु होकर धूम होता है)' इत्यादि अक्षर तत्-तत्स्वरूपकी उपपत्तिमें अनायास उपपन्न होते हैं, इसलिए आकाशादिस्वरूपकी प्रतिपत्ति है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—“आकाशादिके साम्यको प्राप्त करते हैं” । चन्द्रमण्डलमें जो जलमय शरीर उपभोगके लिए उत्पन्न हुआ है, वह उपभोगके क्षय

रत्नप्रभा

इह तु दुग्धं दधि भवतीत्यादिप्रयोगे भवतिश्रुतेर्विकारस्वरूपापत्तौ मुख्यत्वात् सादृ-श्यापत्तिलक्षणाबीजं नास्तीति प्रत्युदाहरणसङ्गतिः । श्रुतिमुख्यत्वं फलमिति पूर्वपक्षः । अनुशयिनां पूर्वसिद्धाकाशादिस्वरूपापत्त्ययोगात् लक्षणेति सिद्ध्यन्तयति—एवमित्यादिना । समानो भावो धर्मो यस्य तद्भावः—साभाव्यम्, साम्यमिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए । पूर्वमें दो मार्ग कहकर तृतीयत्व कहा गया है, इसलिए स्थानशब्द मार्गलक्षक है, यह युक्त है, यहां तो 'दुग्धं दधि भवति' (दूध दही होता है) इत्यादि प्रयोगमें 'भवति' श्रुतिका विकारस्वरूपप्राप्ति मुख्य अर्थ होनेसे सादृश्यापत्तिमें लक्षणाबीज नहीं है, ऐसी प्रत्युदा-हरणसंगति है । यह पूर्वपक्ष है । अनुशयी—जीवोंकी पूर्वसिद्ध आकाशादिस्वरूप प्राप्तिके अयुक्त होनेसे लक्षणा है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—“एवम्” इत्यादिसे । समान—एकसा, भाव—धर्म हैं

भाष्य

दिभिः संपृच्यत इति । तदेतदुच्यते—‘यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुम्’ (छा० ५।१०।५) इत्येवमादिना । कुतः एतत् ? उपपत्तेः । एवं ह्येतदुपपद्यते । नह्यन्यस्यान्यभावो मुख्य उपपद्यते । आकाशस्वरूपप्रतिपत्तौ च वाय्वा-
दिक्रमेणावरोहो नोपपद्यते । विभुत्वाच्चाकाशेन नित्यसम्बद्धत्वात् तत्सादृश्या-
पत्तेरन्यस्तत्सम्बन्धो घटते । श्रुत्यसम्भवे च लक्षणाश्रयणं न्याय्यमेव । अतः
आकाशादितुल्यतापत्तिरेवात्राकाशादिभाव इत्युपचर्यते ॥२२॥

भाष्यका अनुवाद

होने पर प्रविलीन होकर सूक्ष्म आकाशके समान होता है, पीछे वायुके वशमें होता है, फिर उसके बाद धूमादिके साथ संपृक्त होता है । वह ‘यथेतमाकाशम्’ (जैसे गया था वैसे ही आकाशमें पीछे लौटता है, आकाशसे वायुमें) इत्यादिसे कहा गया है । यह किससे ? उपपत्तिसे । क्योंकि इस प्रकार यह उपपन्न होता है, क्योंकि एक वस्तुका अन्यभाव मुख्य अर्थमें उपपन्न नहीं होता । आकाश-
स्वरूपकी प्रतिपत्ति माननेपर वायु आदिमें क्रमसे अवरोह उपपन्न नहीं होगा और आकाशके विभु होनेसे तथा उसके साथ नित्य संबन्ध होनेसे आकाशादि-तुल्यता-
प्राप्तिसे भिन्न उसका संबन्ध नहीं घटता । और श्रुतिके असंभवमें लक्षणाका आश्रयण करना ठीक ही है । इसलिए यहां आकाशादितुल्यताप्राप्ति ही आकाशादिभाव है ॥ २२ ॥

रत्नप्रभा

सूत्रपदार्थः । एवं ह्येतदिति । एतद्—भवनम्, एवं—सादृश्यरूपमेवोपपद्यते इत्यर्थः । अनुशयिनामाकाशादिभ्यो निर्गमनान्यथानुपपत्त्यापि सादृश्यलक्षणा इत्याह—
आकाशस्वरूपेति । संयोगलक्षणाम् आशङ्क्याह—विभुत्वादिति । भवतिश्रुत्या संयोगलक्षणायाम् अनुवादः स्यात् इत्यर्थः । विविधभूतसाम्यमवरोहे भवतीत्यनु-
सन्धानाद्वैराग्यमुपसंहरति—अत इति ॥ २२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिसका वह सभाव, उसका जो भाव वह साभाव्य—साम्य है, ऐसा सूत्रपदका अर्थ है । “एवं ह्येतत्” इत्यादि । एतत्—यह आकाशादि भवन, एवम्—सादृश्यरूप ही उपपन्न होता है, ऐसा अर्थ है । अनुशयी (जीवों) के आकाश आदिसे निर्गमनकी अन्यथानुपपत्ति होनेसे भी सादृश्यलक्षणा है, ऐसा कहते हैं—“आकाशस्वरूप” इत्यादिसे । परन्तु भवतिश्रुतिसे आकाश आदिके संयोगमात्रमें लक्षणा करो, सादृश्यमें लक्षणाका क्या प्रयोजन है ? ऐसी आशंका करके कहते हैं—“विभुत्वात्” इत्यादिसे । भवतिश्रुतिसे संयोगमें लक्षणा माननेपर अनुवाद होगा, ऐसा अर्थ है । अवरोहमें विविध भूतसाम्य होता है, ऐसे अनुसन्धानसे वैराग्य होता है, इस प्रकार उपसंहार करते हैं—“अतः” इत्यादिसे ॥ २२ ॥

[५ नातिचिराधिकरण सू० २३]

ब्रीह्यादेः प्राग्विलम्बेन त्वरया वाऽवरोहति ।

तत्रानियम एव स्यान्नियामकविवर्जनात् ॥१॥

दुःखं ब्रीह्यादिनिर्याणमिति तत्र विशेषितः ।

विलम्बस्तेन पूर्वत्र त्वराऽर्थादवसीयते* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रीह्यादिभावके पूर्व अनुशयी आकाशादिमेंसे विलम्बसे अवरोह करता है अथवा त्वरासे ?

पूर्वपक्ष—किसी नियामकके न रहनेसे अनियम है ।

सिद्धान्त—ब्रीह्यादिभावसे निकलना कठिन है, क्योंकि श्रुतिमें विलम्ब विशेषित है, अतः आकाश आदिसे शीघ्र उतरता है, ऐसा अर्थात् ज्ञात होता है ।

नातिचिरेण विशेषात् २३

पदच्छेद—न, अतिचिरेण, विशेषात् ।

पदार्थोक्ति—[जीवः] न अतिचिरेण—अल्पकालमेव [आकाशादिवर्षान्तैः सादृश्येनावस्थाय वर्षणधाराद्वारा पृथिवीं प्रविशति, कुतः ?] विशेषात्—ब्रीह्यादि-भावापत्त्यनन्तरम् ‘अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्’ इत्येवं रूपेण विशेषात् [ततः पूर्वं सुनिष्प्रपतरत्वं ज्ञायते इति भावः] ।

भाषार्थ—जीव स्वल्पकाल ही आकाश आदिके साथ समानरूपसे रहकर वर्षाकी धारा द्वारा पृथ्वीमें प्रवेश करता है, क्योंकि ब्रीह्यादि भावकी प्राप्तिके अनन्तर ही ‘अतो वै’ इत्यादि श्रुतिसे दुर्निष्प्रपतरत्वका कथन है, उसके पूर्व नहीं, ऐसा ज्ञात होता है ।

* वर्षणके बाद ब्रीह्यादिभाव श्रुतिमें कहा गया है—‘त इह ब्रीहीयवा ओषधिवनस्पतयास्तिलमाषा इति जायन्ते’ इत्यादि, इससे ब्रीह्यादिभावसे पूर्व आकाश आदिभावसे जीव शीघ्र अवरोह करता है या विलम्बसे ? उसमें नियामकके अभाव होनेसे अनिर्णय है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—ब्रीह्यादिभावको कहकर ‘अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्’ इत्यादि श्रुति ‘ब्रीह्यादिभावसे निकलना अति कठिन है’ इस प्रकार कहती हुई ब्रीहि आदिमें विलम्बका कथन करती है, इसलिए पूर्व आकाश आदिमें त्वरा है, ऐसा अवगम होता है ।

भाष्य

तत्राकाशदिप्रतिपत्तौ प्राग्ब्रीह्यादिभावापत्तेर्भवति विशयः—किं दीर्घं दीर्घं कालं पूर्वपूर्वसादृश्येनावस्थायोत्तरोत्तरसादृश्यं गच्छन्त्युताल्पमल्पमिति । तत्रानियमः, नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादिति । एवं प्राप्त इदमाह—नातिचिरेणेति । अल्पमल्पं कालमाकाशादिभावेनावस्थाय वर्षधाराभिः सहेमां भ्रवमापतन्ति । कुत एतत् ? विशेषदर्शनात् । तथाहि ब्रीह्यादि-भावापत्तेरनन्तरं विशिनष्टि—‘अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्’ (छा० ५। १०।६) इति । तकार एकश्छान्दस्यां प्रक्रियायां लुप्तो मन्तव्यः । दुर्निष्प्रपतरं दुर्निष्क्रमतरम्—दुःखतरमस्माद् ब्रीह्यादिभावाभिःसरणं भवतीत्यर्थः । तदत्र दुःखं निष्प्रपतनं प्रदर्शयन्पूर्वेषु सुखं निष्प्रपतनं दर्शयति । सुख-

भाष्यका अनुवाद

वहां ब्रीहि आदिकी प्राप्तिके पहले आकाशादिकी प्राप्तिमें संशय होता है—क्या दीर्घ-दीर्घ कालतक पूर्व-पूर्वसादृश्यसे अवस्थित होकर उत्तरोत्तर सादृश्य पाते हैं या अल्प-अल्प कालतक अवस्थित होकर ? इसमें अनियम है, क्योंकि नियम करनेवाला शास्त्र नहीं है । ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहते हैं—‘नातिचिरेण’ इत्यादि । अल्प अल्प काल आकाशादिभावसे अवस्थित होकर वृष्टिधाराओंके साथ इस पृथिवी पर पड़ते हैं । यह किससे ? विशेषका दर्शन होनेसे । क्योंकि ब्रीहि आदिभावकी प्राप्तिके पीछे विशेष कहते हैं—‘अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्’ (निश्चय, इससे निष्क्रमण विशेष कष्टदायक है) इस प्रकार एक तकार छान्दस प्रक्रियामें लुप्त समझना चाहिए । दुर्निष्प्रपतर—दुर्निष्क्रमतर, इस ब्रीहि आदि-भावसे निःसरण दुःखतर है, ऐसा अर्थ है । वह वचन यहां दुःखयुक्त निष्क्रमण दिखलाता हुआ पूर्वभावोंमें सुखसे निष्क्रमण दिखलाता है । और निष्क्रमणमें

रत्नप्रभा

नातिचिरेणेति । उक्तं सादृश्यमुपजीव्य लोके गन्तॄणां चिराचिरगति-दर्शनात् संशयं वदन् पूर्वपक्षयति—तत्रेत्यादिना । अनियमात् कदाचिद्विलम्बेन योन्यापत्तिरिति पूर्वपक्षफलम् । सिद्धान्ते तु ब्रीहियवादिभावादनुशयिनां विलम्बेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

“नातिचिरेण” इत्यादि । सादृश्यका उपजीवन—अवलम्बनकर चिर और अचिर गतिके प्रदर्शनके संशयको कहते हुए पूर्वपक्ष कहते हैं—“तत्र” इत्यादिसे । अनियम होनेसे कदाचित् विलम्बसे जन्मप्रसंग होता है, ऐसा पूर्वपक्षमें फल है । सिद्धान्तमें तो ब्रीहियवादिभावसे

भाष्य

दुःखताविशेषश्चायं निष्प्रपतनस्य कालाल्पत्वदीर्घत्वनिमित्तः । तस्मिन् अवधौ शरीरानिष्पत्तेरुपभोगासम्भवात् । तस्माद् ब्रीह्यादिभावापत्तेः प्रागल्भ्ये नैव कालेनावरोहः स्यादिति ॥२३॥

भाष्यका अनुवाद

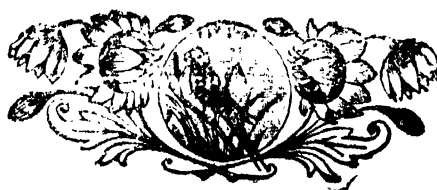
सुख और दुःखकी स्थितिका जो विशेष है उसके निमित्त कालका अल्पत्व और दीर्घत्व है । क्योंकि उस अवधि—कालमें शरीरकी अनिष्पत्तिसे उपभोगका असंभव है । इसलिए ब्रीहि आदिकी प्राप्तिसे पूर्व अल्पकालमें ही अवरोह होता है ॥२३॥

रत्नप्रभा

निर्गमनमिति विशेषात् आकाशादिभावात् शीघ्रं निर्गम इति अविलम्बेन योन्यापत्तिरित्यनुसन्धानात् वैराग्यदार्ढ्यमिति विवेकः । नन्वाकाशादिष्वनुशयिनां सुखं, ब्रीहियवादिषु दुःखमिति दुःखशब्दाद्भाति, न चिराचिरनिर्गमनमित्यत आह—सुखदुःखताविशेषश्चायमिति । अवधिः—कालः ॥ २३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनुशयिओंका (जीवोंका) विलम्बसे निर्गमन होता है, ऐसा विशेष होनेसे आकाशादिभावसे शीघ्र ही निर्गमन होता है अर्थात् अविलम्बसे जन्मप्राप्ति है, इस अनुसन्धानसे वैराग्यकी दृढ़ता है, ऐसा विवेक है । परन्तु आकाशादिमें अनुशयिओंको (जीवोंको) सुख और ब्रीह्यादिमें दुःख है, यह दुःखशब्दसे समझमें आता है, चिर या अचिरकालमें निर्गमन समझमें नहीं आता, इसलिए कहते हैं—“सुखदुःखताविशेषश्चायम्” इत्यादिसे । अवधि—काल ॥ २३ ॥



[६ अन्याधिष्ठिताधिकरण । सू०—२४-२७]

ब्रीह्यादौ जन्म तेषां स्यात्संश्लेषो वा जनिर्भवेत् ।

‘जायन्ते’ इति मुख्यत्वात्पशुहिंसादिपापतः ॥१॥

वैधान्न पापसंश्लेषः कर्मव्यापृत्यनुक्तिः ।

श्वविप्रादौ मुख्यजनौ चरणव्यापृतिः श्रुता* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्वेह—ब्रीहि आदिमें जीवोंका संसर्गमात्र है अथवा मुख्य जन्म है ?

पूर्वपक्ष—मुख्य जन्म है, क्योंकि ‘जायन्ते’ इसका श्रवण है और पशु हिंसादि पापका योग है ।

सिद्धान्त—वैध होनेसे पशुहिंसा पाप नहीं है और कर्मके व्यापारका कथन नहीं है, अतः ब्रीह्यादिमें संसर्गमात्र है, जन्म नहीं है ।

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥२४॥

पदच्छेद—अन्याधिष्ठितेषु, पूर्ववदभिलापात् ।

पदार्थोक्ति—अन्याधिष्ठितेषु—अन्यैः जीवैः अधिष्ठितेषु [ब्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनां भवति, कुतः ?] पूर्ववदभिलापात्—यथा आकाशादिवर्षान्तेषु कर्मपरामर्शमन्तरेणैव प्रवेश उक्तः, तथा ब्रीह्यादिष्वपि कर्मपरामर्शं विनैव प्रवेशाभिलापात्, [अतः कर्मपरामर्शाभावान्न ब्रीह्यादिष्वनुशयिनां सुखादिभोगः] ।

भाषार्थ—जीवोंसे अधिष्ठित ब्रीहि आदिमें अनुशयी जीवोंका संसर्गमात्र ही है, क्योंकि जैसे आकाश आदिसे वर्षा पर्यन्त कर्म परामर्शके बिना प्रवेश कहा गया है, वैसे ब्रीहि आदिमें भी कर्म परामर्शके बिना ही प्रवेशका कथन है । इससे कर्मके परामर्श के न होनेसे ब्रीह्यादिमें अनुशयियोंका सुखादिसाक्षात्कार नहीं है ।

* भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—आकाश आदिके समान ब्रीहि आदिमें संसर्गमात्र नहीं है, किन्तु ब्रीहि आदिके रूपसे मुख्य जन्म है, कारण कि ‘जायन्ते’ यह श्रुति है । यह शङ्का नहीं करनी चाहिए—‘स्वर्गमें पुण्यफलका भोगकर पापफलरूप स्थावर जन्मका सम्भव हो सकता है’ क्योंकि स्थावर जन्मका कारण पशुहिंसादि वर्तमान है, अतः मुख्य ही जन्म है, ऐसा प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—विधिशाल्वलभ्य होनेसे यद्यपि पशुहिंसा पाप नहीं हो सकता, इसलिए ‘जायन्ते’ इस शब्दसे संश्लेषमात्र विवक्षित है मुख्य जन्म नहीं, क्योंकि कर्मके व्यापारका अभिधान नहीं है, जहां मुख्य जन्म विवक्षित होता है वहां कर्मके व्यापारका अभिधान होता है—जैसे ‘रमणीयचरणाः’ इत्यादि । अतः स्वर्गसे अवरोह करनेवालोंका ब्रीह्यादिमें संश्लेषमात्र है ।

भाष्य

तस्मिन्नवरोहे प्रवर्षणानन्तरं पठ्यते—‘त इह ब्रीहियवा ओषधि-
वनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते’ (छा० ५।१०।६) । तत्र संशयः—
किमस्मिन्नवधौ स्थावरजात्यापन्नाः स्थावरसुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्त्या-
होस्वित् क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितेषु स्थावरशरीरेषु संश्लेषमात्रं गच्छन्तीति । किं
तावत्प्राप्तम् ? स्थावरजात्यापन्नास्तत्सुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्तीति । कुत
एतत् ? जनेर्मुख्यार्थत्वोपपत्तेः, स्थावरभावस्य च श्रुतिस्मृत्योरुपभोगस्थानत्वप्र-

भाष्यका अनुवाद

वसी अवरोहमें प्रवर्षणके अनन्तर ऐसा पढ़ा गया है—‘त इह ब्रीहियवा०’
(वे यहां ब्रीहि और यव, ओषधि और वनस्पति, तिल तथा उड़दरूपसे उत्पन्न
होते हैं) इसमें संशय होता है कि—इस अवधि—कालमें स्थावरजाति प्राप्त हुए
अनुशयी स्थावरके सुख-दुःख भोगनेवाले होते हैं या अन्य आत्मासे अधिष्ठित
स्थावर शरीरोंमें संश्लेषमात्र पाते हैं ? तब क्या प्राप्त होता है ? स्थावरजाति
प्राप्त हुए अनुशयी इसके सुख-दुःख भोगनेवाले होते हैं । यह किससे ? इससे कि
इसमें ‘जन्’ धातुका मुख्य अर्थ उपपन्न होता है । स्थावरभाव श्रुति और

रत्नप्रभा

अन्याधिष्ठितेष्विति । श्रुतिक्रमाद् अर्थक्रमात् च अधिकरणानां क्रमो बोध्यः ।
इह भूमौ वर्षधाराद्वारा पतिताः ते—अनुशयिनो ब्रीह्यादिसाम्येन जायन्ते इति
श्रुत्यर्थः । अत्र जायन्त इति श्रुतेः पूर्वत्राकाशादिवर्षान्तसादृश्योक्तेः च संशयमाह—
तत्रेति । अस्मिन्नवधौ वर्षसादृश्यानन्तरमित्यर्थः । दुर्निष्प्रपतरशब्देन चिरनिर्गमन-
लक्षणा उक्ता न युक्ता, दुःखेन निर्गमनमिति मुख्यसम्भवात् इत्याक्षेपसङ्गत्या
पूर्वपक्षयति—किन्तावदित्यादिना । अत्र पूर्वपक्षे स्थावरत्वनिवृत्तयेऽधिकारिणां
यत्नगौरवम् । सिद्धान्ते ब्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं परिहर्तुं यत्नलाघवं वैराम्यध्रौव्यञ्चेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

“अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्” । श्रुति और अर्थके क्रमसे अधिकरणोंका क्रम समझना
चाहिए । यहां भूमिपर वृष्टिधारा द्वारा पड़े हुए वे अनुशयी जीव ब्रीहि आदिके सदृश होकर
जन्म लेते हैं, ऐसा श्रुतिका अर्थ है । यहां ‘जायन्ते’ (जन्म लेते हैं) ऐसी श्रुति होनेसे,
और पूर्व अधिकरणमें आकाश आदिसे वृष्टिपर्यन्तमें सादृश्य कहा गया है इससे, संशय होता है,
ऐसा कहते हैं—“तत्र” इत्यादिसे । अस्मिन् अवधौ—(इस अवधिमें) वृष्टिसादृश्यके अनन्तर,
ऐसा अर्थ है । दुर्निष्प्रपतरशब्दसे चिरकालके बाद निर्गमन होता है, ऐसी जो लक्षणा कही
गई है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि दुःखसे निर्गमन होता है, इस मुख्य अर्थका संभव है, इस

भाष्य

सिद्धेः, पशुहिंसादियोगाच्चेष्टादेः कर्मजातस्यानिष्टफलत्वोपपत्तेः । तस्मान्मुख्यमेवेदमनुशयिनां ब्रीह्यादिजन्म, श्वादिजन्मवत् । यथा श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वेति मुख्यमेवानुशयिनां श्वादिजन्म तत्सुखदुःखान्वितं भवति, एवं ब्रीह्यादिजन्मापीति ।

भाष्यका अनुवाद

स्मृतिमें उपभोगस्थानरूपसे प्रसिद्ध है और पशुहिंसा आदिके योगसे इष्ट आदि कर्मसमूह अनिष्ट फलको देनेवाले हैं, ऐसा उपपन्न होता है । इसलिए अनुशयिओंका ब्रीहि आदिरूपसे जन्म मुख्यार्थमें ही है, कुत्ते आदिरूपसे जन्मके समान । जैसे श्वयोनि, सूकरयोनि, या चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं, ऐसा कहनेसे अनुशयिओंका श्वादिजन्म मुख्य ही है, और वे उसके सुखदुःखसे युक्त होते हैं, वैसे ही ब्रीहि आदि जन्म भी ।

रत्नप्रभा

विवेकः । ननु देहोत्पत्त्या जीवानां जन्म स्यात्, न स्वतः, ब्रीह्यादेस्तु न देहत्वमित्यत आह—स्थावरभावस्येति । ‘स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति’ इत्याद्या श्रुतिः । ‘शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः’ इत्याद्या स्मृतिः । ननु स्वर्गिणां पापाभावात् कथं स्थावरत्वं तत्राह—पश्चित्ति । सोमाद्युच्छिष्टभक्षणसुराग्रहौ—आदिशब्दार्थः । ऋत्वर्थहिंसादेरपि हिंसात्वादिसामान्येन प्रवृत्तेः ‘न हिंस्यात्’ इत्यादिशास्त्रनिषिद्धत्वाकारेण दुरितापूर्वकारित्वम् अविरुद्धमिति सांख्या आहुः ।

श्रुतोऽत्र ब्रीह्यादिभावोऽनुशयिनां न जन्मरूपः कर्मविशेषपरामर्शं विना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकार आक्षेपसंगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—“किं तावत्” इत्यादिसे । यहां पूर्वपक्षमें अधिकारियोंकी स्थावरत्वनिवृत्तिके लिए यत्नगौरव है, सिद्धान्तमें ब्रीह्यादि संश्लेषमात्रका परिहार करनेके लिए यत्नलाघव और वैराग्यदार्ढ्य है, ऐसा विवेक है । देहकी उत्पत्तिसे जीवोंका जन्म हो सकता है, स्वतः—अपने आप नहीं, ब्रीहि आदि तो देह ही नहीं है, इसलिए कहते हैं—“स्थावरभावस्य” इत्यादि । ‘स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति’ (अन्य स्थाणुभाव प्राप्त करते हैं) इत्यादि श्रुति है । ‘शरीरजैः कर्मदोषैः०’ (शरीरसे उत्पन्न कर्मदोषसे मनुष्य स्थावरता प्राप्त करता है) इत्यादि स्मृति है । परन्तु स्वर्ग जानेवालोंमें पापका अभाव है, अतः वे स्थावरत्व कैसे प्राप्त कर सकते हैं, इसपर कहते हैं—“पशु” इत्यादि । सोमादि पानके अवसरमें परस्पर उच्छिष्ट भक्षण और सुराग्रह, यह आदि शब्दका अर्थ है । यज्ञके लिए हिंसा आदि भी हिंसात्वसामान्यधर्मसे ही प्रवृत्त है, इसलिए ‘न हिंस्यात्’ (हिंसा न करे) इत्यादि शास्त्रसे निषिद्ध किये गये स्वरूपसे हिंसामें पापरूप अपूर्वकारिता अविरुद्ध है, ऐसा सांख्योंने कहा है । यहां शास्त्रसे कहे गये

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अन्यैर्जीवैरधिष्ठितेषु ब्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनः प्रतिपद्यन्ते न तत्सुखदुःखभाजो भवन्ति, पूर्ववत् । यथा वायुधूमादिभावोऽनुशयिनां तत्संश्लेषमात्रम्, एवं ब्रीह्यादिभावोऽपि जातिस्थावरैः संश्लेषमात्रम् । कुत एतत् ? तद्वदेवेहाप्यभिलापात् । कोऽभिलापस्य तद्वद्भावः ? कर्मव्यापारमन्तरेण संकीर्तनम्, यथाकाशादिषु प्रवर्षणान्तेषु न कंचित्कर्मव्यापारं परामृशत्येवं ब्रीह्यादिजन्मन्यपि । तस्मान्नास्त्यत्र सुखदुःखभाक्त्वमनुशयिनाम् । यत्र तु सुखदुःखभाक्त्वमभिप्रैति, परामृशति तत्र

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होने पर—हम कहते हैं—अन्यजीवोंसे अधिष्ठित ब्रीहि आदिमें अनुशयी संसर्गमात्र प्राप्त करते हैं, उनके सुख या दुःखके भागी नहीं होते, पूर्वके समान । जैसे अनुशयीआका वायु, धूमादि होना, उनके साथ संश्लेषमात्र है, वैसे ही ब्रीहि आदि होना, भी स्थावर जातिके साथ संश्लेषमात्र है । यह किससे ? उसके ही समान यहां भी उपवेश होनेसे । उसीके समान व्यपवेश होना किस प्रकार है ? कर्म—पुण्य-पापके व्यापारके बिना संकीर्तन है । जैसे आकाशसे लेकर प्रवर्षण तक श्रुति किसी भी कर्मव्यापारका परामर्श नहीं करती, वैसे ब्रीहि आदिरूपसे

रत्नप्रभा

अत्रोक्तत्वात् पूर्वोक्ताकाशादिभाववत्, इति सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इत्यादिना । पूर्ववत् इतिपदं दृष्टान्तत्वेन हेत्वंशत्वेन च व्याख्यातम् । यदत्र प्रकरणे कर्मविशेषपरामर्शपूर्वकमुच्यते, तज्जन्मेति व्यतिरेकदृष्टान्तमप्याह—अत्र त्विति । अपि च ‘यो यो ह्यन्नमस्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति’ इति वाक्यशेषे ब्रीह्यादिषु प्रविष्टस्यानुशयसंघस्यान्नद्वारा रेतःसिक्पुरुषयोगः श्रुतः, तदन्यथानुपपत्त्यापि जन्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनुशयी जीवोंका ब्रीह्यादिभाव जन्मरूप नहीं है, कर्म—पुण्यपापविशेषके परामर्शके बिना उक्त होनेसे, पूर्वोक्त ‘आकाशादि भावके समान’ ऐसा सिद्धान्त करते हैं—“एवं प्राप्ते” इत्यादिसे । ‘पूर्ववत्’ इस पदका दृष्टान्तरूपसे और हेत्वंशरूपसे व्याख्यान किया है, जो इस प्रकरणमें कर्म । पुण्यपापविशेषके परामर्शसे कहा गया है, वह जन्म है, ऐसा व्यतिरेकदृष्टान्तसे भी कहते हैं—‘यत्र तु’ इत्यादिसे । और ‘यो यो ह्यन्नमस्ति०’ (जो जो अनुशयीसे संश्लिष्ट अन्न खाता है और ऋतुकालमें स्त्रीमें रेतः—वीर्यका सिंचन करता है, वह तदाकृति ही होता है) इस वाक्य

भाष्य

कर्मव्यापारम्—रमणीयचरणाः कपूयचरणा इति च । अपिच मुख्येऽनुशयिनां ब्रीह्यादिजन्मनि ब्रीह्यादिषु लूयमानेषु कण्ड्यमोनेषु पच्यमानेषु भक्ष्यमाणेषु च तदभिमानिनोऽनुशयिनः प्रवसेयुः । यो हि जीवो यच्छरीरमभिमन्यते स तस्मिन्पीड्यमाने प्रवसतीति प्रसिद्धम् । तत्र ब्रीह्यादि-भावाद्देतःसिग्भावोऽनुशयिनां नाभिलष्येत । अतः संसर्गमात्रमनुशयिनाम-न्याधिष्ठितेषु ब्रीह्यादिषु भवति । एतेन जनेर्मुख्यार्थत्वं प्रतिब्रूया-दुपभोगस्थानत्वं च स्थावरभावस्य । न च वयमुपभोगस्थानत्वं स्थावर-भावस्यावजानीमहे । भवत्वन्येषां जन्तूनामपुण्यसामर्थ्येन स्थावरभावमुप-

भाष्यका अनुवाद

जन्ममें भी । इसलिए यहां अनुशयी जीव सुखदुःखके भागी ही नहीं है । जहां पर सुखदुःखका भागी होना, श्रुतिका वदेश होता है, वहांपर कर्मव्यापारका श्रुति परामर्श करती है, जैसे कि 'रमणीय चरणाः (शुभ शीलवाले), 'कपूयचरणाः' निन्दित शीलवाले) । और यदि अनुशयी जीवोंका ब्रीहि आदिरूपसे जन्म मुख्यार्थमें हो, तो जब ब्रीहि आदि काटे जायं, कूटे जायं, रांघे जायं या खाये जायं, तब इनके अभिमानी अनुशयी जीव प्रवास करें, क्योंकि जो जीव जिस शरीरका अभिमानी होता है, वह उस शरीरके पीडित होनेपर प्रवास करता है, यह प्रसिद्ध है । अनुशयी जीवोंका ब्रीह्यादिभावसे रेतःसिग्भावका—पुरुषयोगका जो श्रुतिमें कथन है, वह नहीं होता । इसलिए अन्यसे अधिष्ठित ब्रीह्यादिमें अनुशयी जीवोंका संसर्गमात्र होता है । इससे 'जन्' धातुके मुख्यार्थत्वका और स्थावरभावके उपभोगस्थानत्वका निराकरण करना

रत्नप्रभा

श्रुतिर्न मुख्येत्याह—अपि चेत्यादिना । ब्रीह्यादिरूपदेहनाशे देहिनामुत्क्रान्तेर-वश्यम्भावाद्देतःसिग्योगो न स्यादित्यर्थः । एतेनेति । उक्तानुमानार्थापत्तिभ्यां जायत इति श्रुतेर्मुख्यार्थत्वमनुशयिभोगायतनत्वं च ब्रीह्यादेः प्रतिब्रूयादित्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

शेषमें ब्रीहि आदिमें प्रविष्ट अनुशयीओंका अन्न द्वारा वीर्यके आधानकर्ता पुरुषसे जो योग कहा गया है, उसकी अन्यथा अनुपपत्तिसे भी जन्मश्रुति मुख्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—“अपि च” इत्यादिसे । ब्रीहि आदिरूप देहका नाश होनेपर देहीकी उत्क्रान्ति अवश्य होनेसे रेतःसिक् (पुरुष) योग नहीं होगा, ऐसा अर्थ है । एतेन—इससे अर्थात् उक्त अनुमान और अर्थापत्तिसे जन् धातुके मुख्यार्थ-

भाष्य

गतानामेतदुपभोगस्थानम् । चन्द्रमसस्त्ववरोहन्तोऽनुशयिनो न स्थावरभावमुपभुञ्जत इत्याचक्ष्महे ॥२४॥

भाष्यका अनुवाद

चाहिए । और स्थावरभाव उपभोगका स्थान है, इसकी हम अवज्ञा नहीं करते । अन्य जन्तु जो पापके सामर्थ्यसे स्थावरभाव प्राप्त कर चुके हैं, उनका यह उपभोगस्थान हो, परन्तु चन्द्रसे अवरोह करनेवाले अनुशयी स्थावरभावका उपभोग नहीं करते, ऐसा हम कहते हैं ॥ २४ ॥

रत्नप्रभा

ननु ब्रीह्यादेर्भोगायतनत्वानङ्गीकारे पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिप्रवृत्तिबाध इत्यत आह—
न चेति ॥ २४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

त्वका और ब्रीह्यादि स्थावरभाव अनुशयीका भोग स्थान है—इसका खण्डन करना चाहिए, यह अर्थ है । परन्तु ब्रीहि आदि भोगस्थान नहीं है, ऐसा स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त श्रुति, स्मृति और प्रसिद्धिका बाध होगा, इससे कहते हैं—“न च” इत्यादिसे ॥ २४ ॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

पदच्छेद—अशुद्धम्, इति, चेत्, न, शब्दात् ।

पदार्थोक्ति—[ननु ज्योतिष्टोमादिकं कर्म पशुर्हिंसादियोगात्] अशुद्धम्, [अतस्तत्कारिणामनुशयिनां ब्रीह्यादिस्थावरेषु दुःखानुभवार्थं मुख्यमेव जन्माऽस्तु] इति चेन्न, शब्दात्—विधिरूपात् शास्त्रात् [अग्निष्टोमादीनां धर्मतयावगमाम्न तत्र दुःखजनकता इति भावः] ।

भाषार्थ—अग्निष्टोम आदि याग पशुर्हिंसाके योगसे अशुद्ध हैं, अतः उनके करनेवाले अनुशयी ब्रीहि आदि स्थावरोमें दुःखके लिए मुख्य ही जन्म प्राप्त करते हैं, ऐसा यदि कहो, तो युक्त नहीं है, क्योंकि विधिशास्त्र अग्निष्टोम आदिका धर्मरूपसे ज्ञान कराता है, अतः उनमें दुःखहेतुता नहीं है ।

भाष्य

यत्पुनरुक्तम्—पशुहिंसादियोगादशुद्धमाध्वरिकं कर्म, तस्यानिष्टमपि फलमवकल्पत इत्यतो मुख्यमेवानुशयिनां ब्रीह्यादिजन्मास्तु, तत्र गौणी कल्पनानर्थिका—इति, तत्परिह्रियते—न, शास्त्रहेतुत्वाद्धर्माधर्मविज्ञानस्य । अयं धर्मोऽयमधर्म इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम्, अतीन्द्रियत्वात्तयोः । अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च, यस्मिन्देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो भवति, तेन न शास्त्रादहेतु धर्माधर्मविषयं विज्ञानं कस्यचिदस्ति । शास्त्राच्च हिंसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्टोमो

भाष्यका अनुवाद

पशु-हिंसा आदिके योगसे यज्ञकर्म अशुद्ध है, इसका फल—अनिष्ट भी हो सकता है, इसलिए अनुशयी जीवोंका ब्रीहि आदिरूपसे जन्म यदि मुख्यार्थमें हो सकता है तो उसमें गौणी कल्पना अर्थ (प्रयोजन) रहित होगी, ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार किया जाता है—नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि धर्म और अधर्मके विज्ञानका हेतु शास्त्र है, यह धर्म है और यह अधर्म है, इसके विज्ञानमें शास्त्र ही कारण है, क्योंकि वे दोनों धर्म और अधर्म अतीन्द्रिय हैं और इनका देश, काल और निमित्त अनियत है जिस देश, काल और निमित्तमें जिस धर्मका अनुष्ठान होता है वही धर्म अन्य देश, अन्य काल और अन्य निमित्तमें अधर्म हो जाता है इसलिए शास्त्रके बिना धर्म और अधर्मका ज्ञान किसीको भी नहीं होता । हिंसानुग्रह आदि जिसका स्वरूप

रत्नप्रभा

वैदिकं कर्म अशुद्धं न भवति, शास्त्रविहितत्वात्, इति सूत्रार्थं प्रपञ्चयति—अयं धर्म इत्यादिना । शुचौ देशे प्रातः सायंकाले जीवनादिनिमित्तकृतमग्निहोत्रं धर्मो भवति, स एवाशुचिदेशे मध्यरात्रे मरणादिनिमित्ते कृतः सन्नधर्मो भवतीति निर्णयः शास्त्रैकसाध्य इत्यर्थः । ततः किं ? तत्राह—शास्त्राच्चेति । ननु या हिंसा

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैदिक कर्म अशुद्ध नहीं होता, क्योंकि वह शास्त्रसे विहित है, इस प्रकार सूत्रका अर्थ विस्तारसे समझाते हैं—“अयं धर्म” इत्यादिसे । पवित्र देशमें प्रातः तथा सायंकालमें जीवन आदि निमित्तसे किया गया अग्निहोत्र धर्म है, किन्तु वही अग्निहोत्र अपवित्र देशमें मध्यरात्रिमें मरणादि निमित्तसे किया गया अधर्म होता है, ऐसा निर्णय केवल शास्त्रसे ही किया जा सकता है ऐसा अर्थ है । इससे क्या ? इसपर कहते हैं—“शास्त्राच्च” इत्यादिसे । परन्तु जो हिंसा है

भाष्य

धर्म इत्यवधारितं स कथमशुद्ध इति शक्यते वक्तुम् । ननु 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति शास्त्रमेव भूतविषयां हिंसामधर्म इत्यवगमयति । बाढम् । उत्सर्गस्तु सः । अयश्चापवादः 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इति । उत्सर्गापवादयोश्च व्यवस्थितविषयत्वम् । तस्माद्विशुद्धं कर्म वैदिकं, शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वादनित्यमानत्वाच्च । तेन न तस्य प्रतिरूपं फलं जातिस्थावरत्वम् । न च श्वादिजन्मवदपि व्रीह्यादिजन्म भवितुमर्हति । तद्धि कपूयचरणा-

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा ज्योतिष्टोम धर्मरूपसे शास्त्रद्वारा निश्चित हुआ है, वह अशुद्ध है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? परन्तु 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' (सब भूतोंकी—किसी भी जीवकी हिंसा न करो) यह शास्त्र ही भूतविषयक हिंसा अधर्म है, ऐसा बतलाता है । सत्य है, वह तो उत्सर्ग है । और 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' (अग्नि और सोमके लिए पशुका बध करे) यह अपवाद है । उत्सर्ग और अपवादका विषय व्यवस्थित है । इसलिए वैदिक कर्म विशुद्ध है, क्योंकि शिष्ट उसका अनुष्ठान करते हैं और वह निन्दा करनेके योग्य नहीं है । इसलिए स्थावररूपसे जन्म जो प्रतिकूल है, वह उसका फल नहीं है । श्वादिजन्मके

रत्नप्रभा

सोऽधर्म इत्युत्सर्गस्य विशेषविधिना बाधोऽत्र न युक्तः, 'नाभिचरेत्' इति निषिद्ध-
श्येनस्य पुरुषार्थत्ववत् निषिद्धहिंसादेरपि क्रतूपकारकत्वाविरोधादिति, तत्राह—
उत्सर्गापवादयोरिति । अयमर्थः—काम्ये कर्मणि सर्वत्र करणांशे रागतः प्रवृत्तिः,
अङ्गेषु विधित इति स्थितिः । तथा च श्येनारूपे कर्मणि निषेधेपि रागप्राबल्यात्
प्रवृत्तिः स्यात् । क्रत्वङ्गहिंसादौ तु विधित एव प्रवृत्तिर्वाच्या । स च विधिर्यदि
उत्सर्गप्राप्तमनर्थहेतुत्वं न बाधेत, तर्हि प्रवर्तको न स्यात् । प्रवर्तकत्वे वा विधि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वह अधर्म है, इस उत्सर्गका विशेषविधिसे बाध यहां युक्त नहीं है, 'नाभिचरेत्' (श्येन याग न करे) इसमें निषिद्ध किया गया श्येनयाग जैसे पुरुषार्थ है, वैसे निषिद्ध हिंसादिको भी यज्ञका उपकारक होनेमें विरोध नहीं है, ऐसी शंकाका निराकरण करते हैं—“उत्सर्गापवादयोः” इत्यादिसे । यह अभिप्राय है—काम्य कर्ममें सर्वत्र करणअंशमें रागसे प्रवृत्ति होती है और अंगोंमें विधिसे प्रवृत्ति होती है, ऐसी स्थिति है । इसलिए श्येननामक कर्मके निषेध होनेपर भी रागके प्राबल्यसे प्रवृत्ति होगी, क्रतुके अंग जो हिंसादि हैं उनमें तो विधिसे ही प्रवृत्ति होती है, ऐसा कहना चाहिए । और वह विधि यदि उत्सर्गसे प्राप्त हुए अनर्थहेतुत्वका बाध न करे,

भाष्य

नधिकृत्योच्यते, नैवमिह वैशेषिकः कश्चिदधिकारोऽस्ति । अतश्चन्द्रस्थल-
स्खलितानामनुशयिनां ब्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भावं इत्युपचर्यते ॥२५॥

भाष्यका अनुवाद

समान ब्रीहि आदिरूपसे जन्म नहीं हो सकता, क्योंकि, जैसे आदिरूपसे जन्म
कपूयचरणोंका अधिकार करके कहा गया है, वैसे यहां—ब्रीहि आदिरूपसे
जन्ममें कोई विशेष अधिकार नहीं है । इसलिए चन्द्रमण्डलसे स्खलित अनुशयी
जीवोंका ब्रीह्यादिभाव—ब्रीह्यादिसंश्लेषमात्र है, ऐसा उपचार है ॥ २५ ॥

रत्नप्रभा

नर्थाय स्यात् । अतो निरवकाशो विधिः सावकाशमुत्सर्गमविहितहिंसादिषु
स्थापयतीति । इदञ्च निषेधशास्त्रस्य हिंसात्वादिसामान्येन प्रवृत्तिम् अङ्गीकृत्योक्तम् ।
वस्तुतस्तस्य रागप्राप्तहिंसाविषयत्वाद्द्वैधहिंसायामप्रवृत्तेर्नाशुद्धत्वशङ्कावसर इति
द्रष्टव्यम् । प्रतिरूपं दुःखरूपं तस्य फलं नेति योजना । इह ब्रीह्यादिभावे कश्चिद-
धिकारः कर्मपरामर्शे नास्तीत्युक्तम् ॥ २५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो वह विधि प्रवर्तक न हो, या प्रवर्तक हो, तो केवल अनर्थके लिए होगी । इससे निरवकाश
विधि सावकाश उत्सर्गको अविहित हिंसा आदिमें स्थापन करती है, यह जो कहा गया है, वह
हिंसात्वादि सामान्यसे—सब हिंसाओंमें हिंसात्वजाति जो समान धर्म है, उससे निषेधशास्त्र
प्रवृत्त हुआ है, ऐसा स्वीकार करके कहा गया है । वस्तुतः निषेधशास्त्र रागप्राप्तहिंसाके लिए है,
अतः वैधहिंसामें उसकी प्रवृत्ति न होनेसे वैदिक कर्म अशुद्ध है, इस शंकाका अवसर नहीं है,
ऐसा समझना चाहिए । प्रतिरूप—दुःखरूप, वह उसका फल नहीं है, ऐसी योजना है । यहां
ब्रीह्यादिभावमें कर्मका परामर्श करनेवाला कोई अधिकार नहीं है, ऐसा कहा गया है ॥२५॥

रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥

पदच्छेद—रेतस्सिग्योगः, अथ ।

पदार्थोक्ति—अथ—ब्रीह्यादिभावानन्तरम् [अनुशयिनाम्] रेतस्सिग्योगः—
रेतः सिञ्चितीति रेतस्सिक् तद्योगः—तद्भावं ['यो रेतः सिञ्चति' इत्यादि श्रुतौ
आम्नायते ।]

भाषार्थ—ब्रीह्यादिभावके अनन्तर अनुशयियोंका रेतसिगभाव होता है, क्योंकि
'यो रेतः सिञ्चति' इत्यादि श्रुतिमें सुना जाता है ।

भाष्य

इतश्च ब्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भावो यत्कारणं ब्रीह्यादिभावस्यानन्तर-
मनुशयिनां रेतःसिग्भाव आम्नायते—‘यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति
तद्भूय एव भवति’ (छा० ५।१०।६) इति । नचात्र मुख्यो रेतःसिग्भा-
वः सम्भवति । चिरजातो हि प्राप्तयौवनो रेतःसिग्भवति । कथमिवानुप-
चरिततद्भावमद्यमानाभानुगतोऽनुशयी प्रतिपद्यते । तत्र तावदवश्यं रेतः-
सिग्योग एव रेतःसिग्भावोऽभ्युपगन्तव्यः । तद्वद् ब्रीह्यादिभावोऽपि ब्रीह्या-
दियोग एवेत्यविरोधः ॥ २६ ॥

भाष्यका अनुवाद

इस कारणसे भी ब्रीह्यादिभाव ब्रीह्यादिसंश्लेषमात्र है, क्योंकि ब्रीह्यादिभावके
पीछे श्रुतिमें अनुशयी जीवोंका रेतःसिग्भाव—वीर्यके आधानका कर्तृभाव
कहा गया है—‘यो यो ह्यन्नमत्ति०’ (जो जो अन्न खाता है, जो वीर्यका आधान
करता है, उसीके भाव को वह अनुशयी जीव प्राप्त होता है) इस प्रकार । यहां
आधान करनेवालेका भाव मुख्यार्थमें नहीं घट सकता, क्योंकि चिरकालसे
उत्पन्न हुआ प्राप्तयौवनवाला ही आधान करनेवाला है तो खाये गये अन्नके
साथ अनुगत हुआ अनुशयी जीव आधानक्रिया करनेवालेका भाव उपचारके
बिना किस प्रकार प्राप्त करेगा ? रेतःसिग्योग—आधानक्रिया करनेवालेके
साथ योग ही रेतःसिग्भाव—आधानक्रिया करनेवाला होना है, ऐसा अवश्य
स्वीकार करना चाहिए । इसी प्रकार ब्रीह्यादिभाव भी ब्रीह्यादि योग ही विवक्षित
है, इस लिए विरोध नहीं है ॥ २६ ॥

रत्नप्रभा

अथ ब्रीह्यादिभावानन्तरं रेतःसिग्भावः श्रुतः । तत्रान्नस्थानुशयिनो रेतःसेक-
कर्तृत्वयोगाद्योगमात्रं वाच्यम्, तद्वदुपक्रमेऽपि योग एवास्थेयः, अन्यथोपक्रमोप-
संहारयोः विरोधः स्यात्, इति मत्वोक्तम्—इत्यविरोध इति ॥ २६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रीह्यादिभावके अनन्तर रेतःसिग्भाव—श्रुतिमें कहा गया है । उसमें रेतःसिगकर्तृभाव
अन्नस्थ अनुशयी जीवका हो, यह युक्त न होनेसे रेतःसिग्भावको संयोगमात्र कहना चाहिए ।
उसी प्रकार उपक्रम और उपसंहारमें विरोध होगा, ऐसा विचारकर कहते हैं—“इत्यविरोध”
इत्यादिसे ॥ २६ ॥

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

पदच्छेद—योनेः, शरीरम् ।

पदार्थोक्ति—[योनौ रेतसि निषिक्ते सति ततः] योनेः—शरीरम्—सुख-
दुःखोपभोगयोग्यं कर्मोपाजितम् शरीरम् [जायते, इति 'रमणीयचरणा' इत्यादि
शास्त्रं कथयति, तस्माद् ब्राह्मणादियोनावेवानुशयिनां मुख्यं जन्म नान्यत्र ब्रीह्यादा-
विति भावः] ।

भावार्थ—योनिमें वीर्यके सेचनके बाद उस योनिसे सुखदुःखरूप फलके
उपभोगके लिए योग्य शरीर उत्पन्न होता है, क्योंकि 'रमणीयचरणा' इत्यादि शास्त्र
कहता है, अतः ब्राह्मण आदि योनिमें ही अनुशयियोंका मुख्य जन्म है, अन्यत्र
नहीं, ऐसा सूत्रका तात्पर्य है ।

भाष्य

अथ रेतःसिग्भावस्यानन्तरं योनौ निषिक्ते रेतसि योनेरधिशरीरमनुश-
यिनामनुशयफलोपभोगाय जायत इत्याह शास्त्रम्—'तद्य इह रमणीय-
चरणाः' (छा० ५।१०।७) इत्यादि । तस्मादप्यवगम्यते नावरोहे ब्रीह्या-
दिभावावसरे तच्छरीरमेव सुखदुःखान्वितं भवतीति । तस्माद्ब्रीह्यादिसंश्ले-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आधानक्रिया करनेवालेके साथ योग होनेके अनन्तर योनिमें रेतःसेक
होनेपर अनुशयी जीवोंका अनुशयका फल भोगनेके लिए शरीर उत्पन्न होता है,
ऐसा शास्त्र कहता है—'तद्य इह रमणीयचरणाः' (उनमें जो यहाँ रमणीय
शीलवाले हैं) इत्यादिसे । इससे भी ऐसा समझा जाता है कि अवरोहमें
ब्रीह्यादिभावके अवसरमें अनुशयी जीवका सुखदुःखयुक्त ब्रीह्यादि शरीर ही नहीं

रत्नप्रभा

योनेः शरीरश्रुतेर्न ब्रीह्यादिशरीरत्वमनुशयिनामिति सूत्रार्थः । एवं कर्मिणां
गत्यागतिसंसारो दुर्वार इत्यनुसन्धानात् कर्मफलद्वैराग्यं तत्त्वज्ञानसाधनं सिद्धमिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

योनिसे शरीरकी श्रुति है, इसलिए अनुशयी जीव ब्रीह्यादि शरीरको नहीं प्राप्त करते,
ऐसा सूत्रका अर्थ है । इस प्रकार कर्म करनेवालोंका गति और आगतिरूप संसार दुर्वार है,
ऐसे अनुसन्धानसे कर्मफलसे वैराग्य जो तत्त्वज्ञानका साधन है, वह सिद्ध होता है, ऐसा पादके

भाष्य

षमात्रमनुशयिनां तज्जन्मेति सिद्धम् ॥२७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारी-
रकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

भाष्यका अनुवाद

होता । इसलिए अनुशयी जीवोंका ब्रह्मादिजन्म ब्रह्मादिसंश्लेशमात्र है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ २७ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित शाङ्करभाष्यके भाषानुवादमें
तृतीय अध्यायका प्रथम पाद समाप्त ।

रत्नप्रभा

पादार्थमुपसंहरति—इति सिद्धमिति ॥ २७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपाद-
शिष्यश्रीरामानन्दकृतौ शारीरकमीमांसादर्शनभाष्य-
व्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां तृतीयाध्यायस्य
प्रथमः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थका उपसंहार करते हैं—“इति सिद्धम्” इत्यादिसे ॥ २७ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित तृतीय अध्यायके प्रथमपादका रत्नप्रभाभाषानुवाद समाप्त ।



तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः ।

[अत्र पादे तत्त्वंपदार्थपरिशोधनविचारः]

[१ संध्याधिकरण सू-१-६]

सत्या मिथ्याऽथवा स्वप्नसृष्टिः सत्या श्रुतीरणात् ।

जाग्रद्देशाविशिष्टत्वादीश्वरेणैव निर्मिता ॥१॥

देशकालाद्यनौचित्याद्वाधितत्वाच्च सा सृष्टा ।

अभावोक्तेर्द्वैतमात्रसाम्याज्जीवानुवादतः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—स्वप्नसृष्टि सत्य है अथवा मिथ्या है ?

पूर्वपक्ष—सत्य है, क्योंकि श्रुति कहती है, और जागरितके समान स्वप्नसृष्टि ईश्वर द्वारा ही की गई है ।

सिद्धान्त—स्वप्नसृष्टि मिथ्या है, क्योंकि देश और कालका औचित्य नहीं है और इसका बाध होता है एवं अभावका कथन है, तथा द्वैतकी साम्यतामात्रसे जीवका अनुवाद 'म एव' इत्यादिसे होता है ।

* भाव यह है कि 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इत्यादि श्रुतिसे स्वप्नमें रथादिकी सृष्टि प्रतिपादन की है । वह वियदादि सृष्टिके समान व्यावहारिक है, क्योंकि जाग्रद्देश और स्वप्नदेशमें कोई विशेषता प्रतीत नहीं होती, इसलिए स्वप्नसृष्टि सत्य है, ईश्वरकर्तृक होनेसे, वियदादिके समान, इस प्रकार पूर्वपक्ष होनेपर—

सिद्धान्ती—स्वप्नसृष्टि मिथ्या है, किससे ? इससे कि उसके उचित देशकालका सम्भव नहीं है, अतिसूक्ष्म नाडीके मध्यमें गिरि, नदी आदिका समुचित देश नहीं हो सकता है, किन्तु, स्वप्नमें उपलब्ध पदार्थका स्वप्न ही में बाध होता है, क्योंकि जिस पदार्थका तरुत्वेन ग्रहण हुआ हो उसीका गिरित्वेन अवगाहन होता है, स्वप्नसृष्टिको जो श्रुति कहती है वह अभावपूर्वक कहती है—'न तत्र रथः' इत्यादिसे । अतः वस्तुतः रथादिके न होनेपर भी श्रुतिकारजतके समान वे भासमान होते हैं, ऐसा श्रुतिका तात्पर्य है । जाग्रत्साम्य भी उसमें नहीं है, क्योंकि अनुचित देशका प्रतीत होता है, ऐसा कहा जा चुका है । यह जो कहा है कि स्वप्नसृष्टि ईश्वर निर्मित है, वह भी असत्य है, 'य एव सुप्तो जागर्ति' इत्यादिसे जीव ही स्वप्नकारिणमोतारूपसे अनुदित है, इसलिए स्वप्नसृष्टि मिथ्या है ।

संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

पदच्छेद—सन्ध्ये, सृष्टिः, आह, हि ।

पदार्थोक्ति—सन्ध्ये—जाग्रत्सुषुप्त्योः सन्धौ भवे स्वप्ने, सृष्टिः—तत्र स्वप्ने दृश्यमानं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् [व्यावहारिकमेव भवितुमर्हति, कुतः ?] हि—यतः [तथा भगवती श्रुतिः] आह—‘अथ रथान्’ इत्यादिना कथयति ।

भाषार्थ—जाग्रत् और सुषुप्तिकी सन्धिमें होनेवाली स्वप्नावस्था व्यावहारिक है, क्योंकि ‘अथ रथान्’ इत्यादिसे भगवती श्रुति उसी अर्थका प्रतिपादन करती है ।

भाष्य

अतिक्रान्ते पादे पञ्चाग्निविद्यामुदाहृत्य जीवस्य संसारगतिप्रभेदः प्रपञ्चितः । इदानीं तु तस्यैवावस्थाभेदः प्रपञ्च्यते । इदमामनन्ति—‘स यत्र प्रस्वपिति’ (बृ० ४।३।९) इत्युपक्रम्य ‘न तत्र रथा न रथयोगा

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपादमें पञ्चाग्नि विद्याके दृष्टान्तसे जीवकी संसारगतिका प्रभेद विस्तारसे कहा गया है, परन्तु अब उसीकी भिन्न भिन्न अवस्थाएँ सविस्तर कही जाती हैं । ‘स यत्र प्रस्वपिति०’ (वह जहां सोता है) ऐसा उपक्रम करके ‘न तत्र’ (वहां

रत्नप्रभा

संध्ये सृष्टिराह हि—उक्तवैराग्यसाध्यः तत्त्वम्पदार्थविवेको वाक्यार्थज्ञानसाधनमस्मिन् पादे निरूप्यत इति पादयोः हेतुसाध्यभावसङ्गतिमाह—अतिक्रान्त इति । साधनविचारत्वादेवास्य पादस्यास्मिन्नध्याये संगतिः । अस्मिन् पादे ‘न स्थानतोऽपि’ इत्यतः प्रागुद्देश्यत्वेन प्रथमं जिज्ञासित-त्वम्पदार्थोऽवस्थाद्वारा विविच्यते । तदारभ्यापादसमाप्तेर्विधेयतत्पदार्थविवेकः । तत्र पूर्वं गत्यागति-चिन्तया जाग्रदवस्था निरूपिता, तदनन्तरभाविनी स्वप्नावस्थां श्रुत्युक्तां विषयी-

रत्नप्रभाका अनुवाद

‘संध्ये सृष्टिराह हि’ । पूर्वमें उक्त वैराग्यसे साध्य तत्त्वम्पदार्थका विवेक जो वाक्यार्थज्ञानका साधन है, उसका इस पादमें निरूपण होता है, अतः दो पादोंकी हेतुसाध्यभाव संगति है, इसको कहते हैं, “अतिक्रान्त” इत्यादिसे । इस पादमें साधनका विचार है, इसीलिए इस पादकी इस अध्यायमें संगति है, इस पादमें ‘न स्थानतोऽपि’ इसके पहिले उद्देशरूपसे प्रथम जिज्ञासित त्वं पदार्थका अवस्था द्वारा विवेचन होता है । उससे लेकर पाद पर्यन्त विधेय जो तत्पदार्थका विवेक है, उसका निरूपण होता है । उसमें पूर्वमें जीवकी गति और आगतिके विचारसे जाग्रदवस्थाका निरूपण

भाष्य

न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि । तत्र संशयः—किं प्रबोध इव स्वप्नेऽपि पारमार्थिका सृष्टिराहोस्विन्मायामयीति । तत्र तावत्प्रतिपद्यते—संध्ये तथ्यरूपा सृष्टिरिति । संध्यमिति स्वप्नस्थानमाचष्टे, वेदे प्रयोगदर्शनात् 'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (बृ० ४।३।९) इति द्वयोर्लोकस्थानयोः प्रबोधसंप्रसादस्थानयोर्वा संध्यौ

भाष्यका अनुवाद

रथ नहीं, रथके घोड़े नहीं, या मार्ग नहीं, वह रथ रथके घोड़े और मार्ग उत्पन्न करता है) इत्यादि श्रुति कहती है, उसमें संशय होता है—प्रबोधके समान स्वप्नमें भी पारमार्थिक सृष्टि है, या मायामयी सृष्टि है, इस प्रकारके संशयमें 'पूर्वपक्षी—स्वप्नमें सत्यरूप सृष्टि है, ऐसा मानता है । संध्य स्वप्नस्थानको कहते हैं, क्योंकि वेदमें प्रयोग देखने आता है—'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (संध्य तृतीय स्वप्नस्थान है) इस प्रकार दो लोकस्थान प्रबोधस्थान और संप्रसादस्थानकी संधि-

रत्नप्रभा

कृत्य तत्र स्वप्ने रथादिसृष्टयुक्तेः तदभावोक्तेश्च संशयं वदन् पूर्वपक्षसूत्रं योजयति—तत्र संशय इत्यादिना । स्वप्नरथादयो जाग्रदथादिवत् व्यावहारिकसत्ताका—उत शुक्तिरजतवत् प्रातीतिका इति संशयार्थः । आरम्भणाधिकरणे प्रपञ्चस्य परमार्थिकत्वनिषेधादिति मन्तव्यम् । अत्र पूर्वपक्षे जाग्रद्वत् स्वप्नाज्जीवस्य विवेकासिद्धिः, सिद्धान्ते प्रातीतिकदृश्यसाक्षितया विवेकात् स्वयंज्योतिष्टृप्तिरिति फलम् । मुमूर्षोः सर्वेन्द्रियोपसंहारादेतल्लोकाननुभवे सति वासनामात्रेण इमं लोकं स्मरतः कर्मबलाद्बुद्धये मनसा परलोकस्फूर्तिरूपः स्वप्नोभवति । सोऽयं लोकद्वयसन्धौ भवतीति सन्ध्यः स्वप्नः । तथा च श्रुतिः—'तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने

रत्नप्रभाका अनुवाद

किया गया है, उस अवस्थाके पीछे होनेवाली स्वप्नावस्था श्रुतिमें कही गई है, उसका विषय करके (उद्देशकर) स्वप्नमें रथ आदिकी सृष्टि कही गई है, और इसका अभाव भी कहा गया है, इस-लिए संशय दिखलाकर पूर्वपक्ष सूत्रकी योजना करते हैं—“तत्र संशय” इत्यादिसे । स्वप्नमें दृष्ट रथ आदि जाग्रदवस्थामें दृष्ट रथ आदिके समान व्यावहारिक अस्तित्ववाले हैं या शुक्ति-रजतके समान केवल प्रातिभासिक—प्रतीतिके विषय हैं, ऐसा संशयका अर्थ है, क्योंकि आरंभण अधिकरणमें प्रपञ्चके पारमार्थिकत्वका निषेध किया है, ऐसा समझना चाहिए । यहाँ पूर्वपक्षमें जाग्रद-वस्थाके समान जीवके स्वप्नसे विवेककी असिद्धि है । सिद्धान्तमें प्रतीतिके विषय जो दृश्य है उसके

भाष्य

भवतीति संध्यम्, तस्मिन्संध्ये स्थाने तथ्यरूपैव सृष्टिभवितुमर्हति ।
कुतः ? यतः प्रमाणभूता श्रुतिरेवमाह 'अथ रथान् रथयोगान् सृजते'
(बृ० ४।३।१०) इत्यादि । स हि कर्तेति चोपसंहारादेवमेवावगम्यते ॥१॥

भाष्यका अनुवाद

में होता है, अतः सन्ध्य कहलाता है । उस सन्ध्यस्थानमें सत्यरूप ही सृष्टि हो सकती है, किससे ? क्योंकि प्रमाणभूत सृष्टि ऐसा ही कहती है—'अथ रथान् रथयोगान्' (रथ रथके घोड़े और मार्ग उत्पन्न करता है । 'स हि कर्ता' (क्योंकि वह कर्ता है) ऐसा उपसंहार होनेसे ऐसा ही है, ऐसा समझा जाता है ॥ १ ॥

रत्नप्रभा

तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदञ्च परलोकस्थानञ्च' [बृ० ४।३।९] इति । अयं स्वप्नः कादाचित्क इत्यरुच्या नित्यस्वप्नस्य प्रबोधसम्प्रसादसन्धिभवत्वमुक्तम् । अन्ये तु मर्त्यचक्षुराद्यजन्यरूपादिसाक्षात्कारवत्त्वं परलोकलक्षणं, दैवचक्षुराद्यजन्यतद्वत्त्वं मर्त्यलोकलक्षणं च स्वप्नेऽस्तीति लक्षणतो लोकद्वयस्पर्शित्वात् नित्यस्वप्नस्यैव लोकद्वयसन्ध्यत्वं ग्रामद्वयस्पर्शिमार्गस्य तत्सन्ध्यत्ववदिति वाचक्षते । न केवलं श्रुत्या स्वप्नार्थानां व्यवहारारिकसत्यत्वं, किन्तु सकर्तृकत्वादपीत्याह—सहि कर्तेति ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

साक्षीरूपसे जीवका विवेक होनेसे उसके स्वयं प्रकाशकी सिद्धि है, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें भिन्न फल है । मुमुर्षुकी—मुक्ति चाहनेवालेकी सब इन्द्रियोंके उपसंहारसे इस लोकका अनुभव नहीं होता अर्थात् वासनामात्रसे इस लोकका स्मरण होता है, उसके कर्मबलसे हृदयमें मानसिक परलोककी स्फूर्तिरूप स्वप्न होता है, वह स्वप्न इस लोक और परलोक दोनोंकी सन्धिमें होता है, इसलिए सन्ध्य—स्वप्न कहा गया है, क्योंकि—'तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने०' (उस सन्ध्य स्थानमें रहकर यह दोनों स्थान यह लोकस्थान और परलोक स्थान देखता है) इस प्रकारकी श्रुति है । परन्तु यह स्वप्न कादाचित्क है, इस अरुचिसे नित्य स्वप्न प्रबोध और सम्प्रसादकी सन्धिमें होता है, ऐसा कहा गया है । अन्य तो मर्त्य चक्षु आदिसे अजन्य रूपादिसाक्षात्कार जिसमें है, वह परलोकका लक्षण है और दैव चक्षु आदिसे अजन्य रूपादिसाक्षात्कार जिसमें है वह मर्त्यलोकका लक्षण है, स्वप्नमें दोनों लक्षण होनेसे लक्षणसे नित्य स्वप्न दोनों लोकोंका स्पर्श करता है, इसलिए वह सन्ध्य है, जैसे दो ग्रामोंके बीचमें स्थित मार्ग उनकी सन्धिमें स्थित हुआ कहलाता है, वैसे, इस प्रकार व्याख्यान करते हैं । केवल श्रुतिसे स्वापिक पदार्थोंमें व्यावहारिक सत्यत्व नहीं है, किन्तु सकर्तृकत्व हेतु होनेसे भी व्यावहारिक सत्यत्व है, ऐसा कहते हैं—'स हि कर्ता' इत्यादिसे ॥ १ ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

पदच्छेद—निर्मातारम्, च, एके, पुत्रादयः, च ।

पदार्थोक्ति—एके—केचन शास्त्रिनः [अस्मिंश्च स्वप्ने कामानाम्] निर्मा-
तारम्—उत्पादकम् [ईश्वरम् आमनन्ति, 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' इति श्रुतेः तत्र
श्रुतौ 'कामाः' इत्यनेन] पुत्रादयश्च—तनुजादयश्च [अभिधीयन्ते, काम्यन्त
इति व्युत्पत्तेः, एवञ्च स्वप्नसृष्टिः व्यावहारिकसत्त्ववती ईश्वरकर्तृकत्वात्,
क्षित्यादिवत्, इत्यनुमानं सूत्रेणानेन प्रत्यर्पितमिति श्रुत्यानुमानेन च स्वप्नप्रपञ्चस्य
व्यावहारिकत्वं सिद्धम्] ।

भाषार्थ—कोई शाखावाले—स्वप्नमें कामोंका निर्माता ईश्वर है, ऐसा मानते
हैं, और कामशब्दसे पुत्रादि लिए जाते हैं, इसलिए स्वप्नसृष्टि ईश्वरकर्तृक होनेसे
क्षिति आदिके समान व्यावहारिक है, यह तर्क हो सकता है, अतः पूर्वोक्त श्रुति और
इस तर्कसे स्वप्नप्रपञ्चमें व्यावहारिकत्व सिद्ध हुआ ।

भाष्य

अपि चैके शास्त्रिनोऽस्मिन्नेव संध्ये स्थाने कामानां निर्मातारमात्मा-
नमामनन्ति—'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः'
(क० ५।८) इति । पुत्रादयश्च तत्र कामा अभिप्रेयन्ते काम्यन्त इति ।
ननु कामशब्देनेच्छाविशेषा एवोच्येरन् । न । 'शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व'

भाष्यका अनुवाद

और एक शाखावाले इसी सन्ध्यस्थानमें आत्मा कामोंका निर्माता है, ऐसा
प्रतिपादन करते हैं—'य एष सुप्तेषु जागर्ति०' (जो यह पुरुष इनके सोनेपर
जागता है तो इष्ट—स्त्री आदि अर्थोंका निर्माण करता हुआ जागता है)
इत्यादिसे । उसमें पुत्र आदि काम हैं, ऐसा अभिप्राय है, क्योंकि उनका
कामना की जाती है । परन्तु कामशब्दका अर्थ इच्छाविशेष ही है, ऐसा

रत्नप्रभा

किञ्च स्वप्नार्थाः सत्याः प्राज्ञनिर्मितत्वाद् आकाशादिवदिति सूत्रार्थमाह—
अपि चेत्यादिना । रूढिमाशङ्क्य प्रकरणान्निरस्यति—नन्वित्यादिना । यः सुप्तेषु

रत्नप्रभाका अनुवाद

किंच, स्वप्नके पदार्थ सत्य हैं, प्राज्ञसे निर्मित होनेसे, आकाशादिके समान, ऐसा सूत्रार्थ
कहते हैं—'अपि च' इत्यादिसे । रूढिकी आशंका करके प्रकरणका विरोध होनेसे उसका

भाष्य

(क० १।२३) इति प्रकृत्यान्ते 'कामानां त्वा कामभाजं करोमि'
(क० १।२४) इति प्रकृतेषु तत्र तत्र पुत्रादिषु कामशब्दस्य प्रयुक्तत्वात् ।
प्राज्ञं चैनं निर्मातारं प्रकरणवाक्यशेषाभ्यां प्रतीमः । प्राज्ञस्य हीदं प्रकरणम्
'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इत्यादि, तद्विषय एव च
वाक्यशेषोऽपि—

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।

तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ (क० ५।८) इति ।

प्राज्ञकर्तृका च सृष्टिस्तथ्यरूपा समधिगता जागरिताश्रया, तथा स्वप्ना-
श्रयापि सृष्टिर्भवितुमर्हति । तथाच श्रुतिः—'अथो खल्वाहुर्जागरितदेश
एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्तः' (बृ० ४।३।१४)

भाष्यका अनुवाद

यदि कहो तो, नहीं, क्योंकि 'शतायुषः पुत्रपौत्रान्०' (सौ वर्षकी आयुवाले
पुत्र और पौत्रोंके लिए वर मांग) ऐसा प्रस्ताव करके अन्तमें 'कामानां त्वा०'
(सब कामोंका तुझे कामभाजन बनाता हूँ) इस प्रकार प्रकृत पुत्रादिमें काम-
शब्दका प्रयोग किया गया है । और यह निर्माता प्राज्ञ है, ऐसा प्रकरण और
वाक्यशेषसे हम प्रतीत करते हैं, क्योंकि यह प्राज्ञका प्रकरण है—'अन्यत्र धर्माद०'
(धर्मसे—और अधर्मसे अन्य है) इत्यादि । वाक्यशेष भी तद्विषयक ही है—
'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म०' (वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही अमृत कहलाता है, उसमें सब लोक
आश्रित हैं, उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं करता) इस प्रकारका । प्राज्ञ जिसका
कर्ता है, ऐसी जाग्रदवस्थाकी सृष्टि जब सत्यस्वरूप समझी गई है, तो स्वप्ना-
श्रया—स्वप्नावस्थाकी सृष्टि भी वैसी ही हो सकती है, क्योंकि 'अथो खल्वाहुर्जा-
गरित०' (और दूसरे कहते हैं कि उसका यह [जो स्वप्न है, वह] जागरित
देश ही है, क्योंकि जागता हुआ जो पदार्थ देखता है, वही सोता हुआ देखता

रत्नप्रभा

निर्व्यापारेषु करणेषु जागर्ति, तदेव शुक्रं स्वप्रकाशं ब्रह्म इत्यर्थः । स्वप्नस्य जाग्रदर्थैः

रत्नप्रभाका अनुवाद

निरसन करते हैं—“ननु” इत्यादिसे । स्वप्नमें इन्द्रियोंके व्यापारशून्य हो जानेपर जो जागता
है, वही शुक्र—स्वप्रकाश ब्रह्म है, ऐसा अर्थ है । जाग्रदवस्थाके पदार्थोंके साथ स्वप्नके

भाष्य

इति स्वप्नजागरितयोः समानन्यायतां श्रावयति । तस्मात्तथ्यरूपैव संध्ये सृष्टिरिति ॥ २ ॥

एवं प्राप्ते प्रत्याह—

भाष्यका अनुवाद

है) इस प्रकार श्रुति स्वप्न और जाग्रदवस्थाकी समान रीतिका श्रवण कराती है । इसलिये स्वप्नमें सत्यरूप ही सृष्टि है ॥ २ ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर निराकरण करते हैं—

रत्नप्रभा

समानदेशत्वश्रुतेरभेदश्रुतेश्च सत्यत्वे तात्पर्यमित्याह—अथो खल्वाहुरिति ॥२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पदार्थोंकी जो समानदेशताकी तथा अभेदकी श्रुति है, उसका स्वान्निक पदार्थोंके सत्यत्वमें तात्पर्य है, ऐसा कहते हैं—“अथो खल्वाहुः” इत्यादिसे ॥२॥

मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

पदच्छेद—मायामात्रम्, तु, कात्स्न्येन, अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः । [स्वप्नसृष्टिः शुक्तिरूप्य-वन्मायामात्रम्, कुतः ?] कात्स्न्येन—देशकालादिसम्पत्त्यबाधरूपपरमार्थवस्तु-धर्मेण अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्—अभिव्यक्तिशून्यस्वरूपत्वात्, [अतः प्राति-भासिक एव स्वप्नः न व्यावहारिकः इति सिद्धम्] ।

भाषार्थ—सूत्रमें तुशब्द पूर्वपक्षका निवारण करता है स्वप्नकी सृष्टि शुक्ति-रूप्यके समान मायामात्र है, क्योंकि देश, काल आदि सम्पूर्ण धर्मोंसे अभिव्यक्त स्वरूप नहीं है, अतः स्वप्नप्रपञ्च प्रातिभासिक—मायामात्र है ।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति—यदुक्तं सन्ध्ये सृष्टिः पारमा-

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है । सन्ध्य—स्वप्नमें सृष्टि पारमार्थिक

रत्नप्रभा

स्वप्नरथादयः प्रातीतिकाः, जाग्रदथादौ क्लृप्तसामग्रीं विना दृष्टत्वात्, शुक्ति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वप्नमें रथ आदि पदार्थ जो दिखाई पड़ते हैं, वे प्रातिभासिक हैं, जाग्रदवस्थामें वर्तमान

भाष्य

र्थिकीति । मायैव संध्ये सृष्टिर्न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति । कुतः ? कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् । नहि कात्स्न्येन परमार्थवस्तुधर्मेणाभिव्यक्तस्वरूपः स्वप्नः । किं पुनरत्र कात्स्न्यमभिप्रेतं देशकालनिमित्तसंपत्तिरबाधश्च । नहि परमार्थवस्तुविषयाणि देशकालनिमित्तान्यबाधश्च स्वप्ने संभाव्यन्ते । न तावत्स्वप्ने रथादीनामुचितो देशः संभवति । नहि संवृते देहदेशे रथादयोऽ-

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा जो कहा गया है, वह नहीं है । सन्ध्य-सृष्टि माया ही है, उसमें परमार्थका गन्ध भी नहीं है । किससे ? सर्वात्मना उसका स्वरूप अभिव्यक्त न होनेसे । क्योंकि स्वप्न ऐसा नहीं है कि जिसका स्वरूप समस्त परमार्थवस्तुके धर्मसे अभिव्यक्त हो । परन्तु यहां कात्स्न्यका अर्थ क्या अभिप्रेत है ? देश, काल, निमित्तकी सम्पत्ति और अबाध अभिप्रेत है । देश, काल, निमित्त और अबाध जो पारमार्थिक वस्तुके विषय हैं, उनका स्वप्नमें संभव नहीं है । स्वप्नमें रथादिका

रत्नप्रभा

रूप्यादिवदिति सिद्धान्तयति—तुशब्द इत्यादिना । चिन्मात्रनिष्ठाऽविद्या चित्त्वावच्छेदेन जीवेऽपि स्थिता रथाद्याकारा मायेति सूत्रभाष्ययोरुक्ता मायाऽविद्यायोरभेदज्ञापनाय, मात्रपदेन तु सति प्रमातर्यबाध्यत्वरूपस्य व्यावहारिकसत्यत्वस्य निरास उक्तः । कात्स्न्यमत्र जाग्रति या क्लृप्तसामग्री, तज्जन्यत्वं परमार्थवस्तुनो जाग्रदर्थस्य कार्यस्य धर्मः सत्यत्वव्यापकः तदभावं स्वप्ने विवृणोति—न तावदित्यादिना । संवृते सङ्कीर्णे, पर्येतुम्—गन्तुम्, विपर्येतुम्—आगन्तुम् । श्रावयति

रत्नप्रभाका अनुवाद

रथ आदिमें कल्पित सामग्रीके बिना दृष्ट होनेसे, शुक्तिरजत आदिके समान, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—“तुशब्दः” इत्यादिसे । चिन्मात्रनिष्ठ अविद्या जो चित्त्वावच्छेदसे जीवमें भी स्थित है वही रथ आदि आकारवाली माया है, इस प्रकार माया और अविद्यामें कोई भेद नहीं है, ऐसा कहनेके लिए सूत्र और भाष्यमें माया कही गई है । सूत्रमें मात्रपदसे तो सद्रूप प्रमातामें अबाध्यत्वरूप व्यावहारिक सत्यताका निरास कहा गया है । जाग्रदवस्थामें निश्चित जो सामग्री है, तज्जन्यत्व ही यहां कात्स्न्य है, वह परमार्थवस्तु—सत्य जाग्रदर्थरूप कार्यका धर्म, सत्यत्वव्यापक है, स्वप्नमें उसके अभावका विवरण करते हैं—“न तावत्” इत्यादिसे । संवृतमें—संकीर्णमें, पर्येतुं—जानेके लिए, विपर्येतुम्—आनेके लिए ।

भाष्य

वकाशं लभेरन् । स्यादेतत् । बहिर्देहात्स्वप्नं द्रक्ष्यति, देशान्तरितद्रव्य-
ग्रहणात् । दर्शयति च श्रुतिर्बहिर्देहात्स्वप्नं—‘बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा,
स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्’ (बृ० ४।३।१२) इति । स्थितिगतिप्रत्ययभेदश्च
नानिष्क्रान्ते जन्तौ सामञ्जस्यमश्नुवीतेति । नेत्युच्यते । नहि सुप्तस्य जन्तोः
क्षणमात्रेण योजनशतान्तरितं देशं पर्येतुं विपर्येतुं च ततः सामर्थ्यं संभाव्यते,
क्वचिच्च प्रत्यागमनवर्जितं स्वप्नं श्रावयति ‘कुरुष्वहमद्य शयानो निद्रयाऽ-
भिप्लुतः स्वप्ने पञ्चालानभिगतश्चास्मिन्प्रतिबुद्धश्चे’ति । देहाच्चेदपेयात्पञ्चाले-
ष्वेव प्रतिबुध्येत तानसावभिगत इति कुरुष्वेव तु प्रतिबुध्यते । येन चायं

भाष्यका अनुवाद

उचित देश नहीं हो सकता, क्योंकि संवृत देहदेशमें रथ आदि अवकाश प्राप्त
नहीं कर सकेंगे । परन्तु देहसे बाहर विषयोंका स्वप्नमें प्रत्यक्ष होगा, क्योंकि
देशान्तरित द्रव्योंका (जिनमें देशका व्यवधान है, ऐसे द्रव्योंका) स्वप्नमें
ग्रहण होता है । श्रुति भी देहसे बाहर विषयोंमें स्वप्न दिखलाती है—‘बहि-
ष्कुलायादमृतः०’ (कुलायसे—देहसे बाहर अमृत—जीव घूम-फिरकर जहाँ इच्छा
होती है, वहाँ विहार करता है) इस प्रकारकी । और ऐसी स्थिति और गतिकी
भिन्नप्रतीति जन्तुकी अनिष्क्रान्तिमें नहीं घट सकती । हम कहते हैं कि नहीं,
क्योंकि सोये हुए जन्तुमें सैकड़ों योजनोंसे व्यवहित देशमें क्षणमात्रमें ही जाने
या आनेके सामर्थ्यकी सम्भावना नहीं की जा सकती । और कहीं, [प्रबुद्ध
पुरुष] प्रत्यागमनके बिना ही स्वप्न [समीपमें स्थित लोगोंको] सुनाता है—
‘मैं इसी कुरुदेशमें सोता हुआ निद्रासे अभिभूत होकर स्वप्नमें पंचालदेशमें
चला गया था और फिर यहींपर जाग गया’ । यदि देहसे दूर गया होता, तो
पंचालदेशमें जागता, क्योंकि वह वहाँ गया है, किन्तु कुरुदेशमें ही
जागृत होता है । और जिस देहसे यह अपनेको अन्य देशव्याप्त हुआ मानता

रत्नप्रभा

प्रबुद्धो जनः पार्श्वस्थान् प्रतीतिशेषः । एतत्—स्वप्नं यथा स्यात् तथा यत्र काले
स्वप्नया वृत्त्या चरति तदा यथेष्टं स्वशरीरे चरतीत्यर्थः । बहिरिवेति । कुला-

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रावयति—सुनाता है, प्रबुद्ध जन, पार्श्वमें स्थित लोगोंको, इतना शेष है । एतत्—जबतक
स्वप्न है तबतक, जिस स्वप्नकालमें अन्तःकरणकी वृत्तिसे जो व्यवहार करता है, वह यथेष्ट

भाष्य

देहेन देशान्तरमशुवानो मन्यते तमन्ये पार्श्वस्थाः शयनदेश एव पश्यन्ति । यथाभूतानि चायं देशान्तराणि स्वप्ने पश्यति न तानि तथाभूतान्येव भवन्ति । परिधावंश्चेत्पश्येज्जाग्रद्वस्तुभूतमर्थमाकलयेत् । दर्शयति च श्रुतिरन्तरेव देहे स्वप्नम्—‘स यत्रैतत्स्वप्नया चरति’ इत्युपक्रम्य ‘स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते’ (बृ० २।१।१८) इति । अतश्च श्रुत्युपपत्तिविरोधाद्बहिष्कुलायश्रुतिगौणी व्याख्यातव्या—बहिरिव कुलायादमृतश्चरित्वेति । यो हि वसन्नपि शरीरे न तेन प्रयोजनं करोति स बहिरिव शरीराद्भवतीति । स्थितिगतिप्रत्ययभेदोऽप्येवंसति विप्रलम्भ एवाभ्युपगन्तव्यः । कालवि-

भाष्यका अनुवाद

है, उस देहको अन्य पास रहनेवाले शयनदेशमें ही है, ऐसा देखते हैं । इसी प्रकार यह जैसे देशान्तर स्वप्नमें देखता है, वे वैसे ही नहीं होते । यदि दौड़ता हुआ [पदार्थ] देखे, तो वह वे जाग्रतके समान सत्य पदार्थ हैं, ऐसी कल्पना करे । श्रुति भी देहके भीतर ही स्वप्न दिखलाती है—‘स यत्रैतत्’ (यह स्वप्न जैसा हो, वैसा जिस कालमें वह [अमृत-आत्मा] स्वप्नवृत्तिसे व्यवहार करता है) ऐसा उपक्रम करके ‘स्वे शरीरे यथा काम०’ (अपने ही शरीरमें जैसा चाहता है वैसा फिरता है) इस प्रकार । इससे, श्रुति और उपपत्तिके विरोध होनेसे ‘बहिष्कुलाय’ (कुलायसे—देहसे बाहर) यह श्रुति गौणी है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए, अर्थात्, मानो देहके बाहर अमृत—आत्मा घूम-फिरकर [जहाँ चाहता है वहाँ यथेष्ट विहार करता है] इस प्रकार । निश्चय, जो शरीरमें रहता हुआ भी उससे प्रयोजन नहीं रखता, वह शरीरसे बाहर-सा होता है । स्थिति और गतिकी भिन्नप्रतीति भी ऐसा होनेपर विप्रलम्भ ही है, ऐसा

रत्नप्रभा

याद्—देहात् बहिरिव अमृतः—आत्मा चरित्वा यथा कामं यथेष्टम् ईयते—विहरतीत्यर्थः । गुणमाह—यो हीति । देहाभिमानहीनत्वगुणेन बहिष्ठबदेहस्थोऽपि बहिरित्युक्त इत्यर्थः । एवं सति—श्रुतियुक्तिभ्यां अन्तरेव स्वप्ने सतीत्यर्थः । विप्र-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अपने शरीरमें ही व्यवहार करता है, ऐसा अर्थ है । “बहिरिव” इत्यादि । देहके बाहर जैसा अमृत—आत्मा घूम-फिरकर यथेष्ट विहार करता है, यह अर्थ है । गुण कहते हैं—“यो हि” इत्यादिसे । देहस्थ है, तो भी देहाभिमानरहितत्व गुणसे बहिष्ठके समान है, अतः बहिः, यह कहा है, ऐसा अर्थ है । ऐसा होनेपर—श्रुति और युक्तिसे देहके भीतरके ही प्रदेशमें स्वप्न

भाष्य

संवादोऽपि च स्वप्ने भवति रजन्यां सुप्तो वासरं भारते वर्षे मन्यते । तथा मुहूर्तमात्रवर्तिनि स्वप्ने कदाचिद्बहुवर्षपूगानतिवाहयति । निमित्तान्यपि च स्वप्ने न बुद्ध्ये कर्मणे वोचितानि विद्यन्ते । करणोपसंहाराद्धि नास्य रथादिग्रहणाय चक्षुरादीनि सन्ति । रथादिनिर्वर्तनेऽपि कुतोऽस्य निमेष-मात्रेण सामर्थ्यं दारुणि वा । बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः प्रबोधे । स्वप्न एव चैते सुलभवाधा भवन्ति, आद्यन्तयोर्व्यभिचारदर्शनात् । रथोऽयमिति हि कदाचित्स्वप्ने निर्धारितः क्षणेन मनुष्यः संपद्यते, मनुष्योऽयमिति निर्धारितः क्षणेन वृक्षः । स्पष्टं चाभावं रथादीनां स्वप्ने श्रावयति

भाष्यका अनुवाद

स्वीकार करना युक्त है । स्वप्नमें कालविरोध भी होता है, रात्रिमें सोया हुआ भारतवर्षमें दिवस है, ऐसा मानता है तथा मुहूर्तमात्र रहनेवाले स्वप्नमें कदाचित् बहुवर्ष समुदाय निर्गमन करता है । और स्वप्नमें विचार या कर्मके लिए योग्य निमित्त भी नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियोंका उपसंहार होनेसे रथादिके ग्रहण करनेके लिए चक्षु आदि नहीं हैं । इसी प्रकार निमेषमात्रमें रथादिके निर्माणमें इसे सामर्थ्य और भी लकड़ी कहाँ है ? अथवा और स्वप्नमें देखे गये ये रथ आदि पदार्थ जाग्रदवस्थामें बाधित होते हैं और इनका बाध स्वप्नमें भी सुलभ होता है, क्योंकि स्वप्नके आदि और अन्तमें व्यभिचार देखनेमें आता है । निश्चय, कदाचित्, यह रथ है, ऐसा स्वप्नमें निर्धारित हुआ पदार्थ क्षणमें मनुष्य हो जाता है और यह मनुष्य है, ऐसा निश्चय किया गया क्षणमें वृक्ष हो जाता है । शास्त्र भी स्वप्नमें रथ आदिके अभावका स्पष्ट श्रवण कराता है—‘न तत्र

रत्नप्रभा

लम्भः—विभ्रमः । योग्यदेशाभावमुक्त्वा कालभावमाह—कालेति । अत्र रात्रि-समयेऽपि केतुमालादिवर्षान्तरे वासरो भवतीति भारते इत्युक्तम् । पूर्वपक्षानुमानानां

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेपर, ऐसा अर्थ है । विप्रलम्भ—विभ्रम, योग्य देशका अभाव कहकर कालका अभाव कहते हैं—“काल” इत्यादिसे । यहां रात्रि समयमें भी केतुमाल आदिके दूसरे वर्षमें दिन होता है, ऐसा महाभारतमें कहा गया है । पूर्वपक्षके अनुमानोंमें जो जाग्रदर्थके दृष्टान्त हैं,

भाष्य

शास्त्रम्—‘न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति’ (बृ० ४।३।१०)
इत्यादि । तस्मान्मायामात्रं स्वप्नदर्शनम् ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

रथा न रथयोगा०’ (वहां रथ नहीं, रथके घोड़े नहीं और मार्ग नहीं हैं)
इत्यादि । इसलिए स्वप्नदर्शन मायामात्र है ॥३॥

रत्नप्रभा

जाग्रदर्थदृष्टान्ते क्लृप्तसामग्रीजन्यत्वमबाधयोग्यत्वं वोपाधिरिति सूत्रतापर्यम् ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उनमें क्लृप्तसामग्रीजन्यत्व और अबाधयोग्यत्व उपाधि है, ऐसा सूत्रका तात्पर्य है ॥३॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥४॥

पदच्छेद—सूचकः, च, हि, श्रुतेः, आचक्षते, हि, तद्विदः ।

पदार्थोक्ति—[स्वप्ने जायमानः स्त्रीदर्शनादिः सत्य एव, स च सत्यस्य साध्वसाधुवस्तुनः] सूचकः—हेतुः, हि—यतः [तथा] श्रुतेः—‘यदा कर्मसु काम्येषु’ इति श्रुतेः [अवगम्यते] तद्विदः—स्वप्नाध्यायविदो हि आचक्षते च—शुभाशुभसूचकत्वं कथयन्ति च [स्वप्नदर्शनस्य, [वस्तुतस्तु दर्शनस्य स्थाद्यर्थरूपितत्वेनासत्यत्वेऽपि शुक्तिरूप्यविज्ञानस्य तथ्यहर्षादिजनकत्ववत् सत्यशुभादिसूचकत्वमविरुद्धम्, इति भावः] ।

भाषार्थ—स्वप्नमें जायमान स्त्री दर्शनादि सत्य हैं, क्योंकि शुभाशुभ फलके वे सूचक हैं । स्वप्नावस्थाके जाननेवाले भी स्वप्नदर्शनको शुभाशुभफलसूचकत्व कहते हैं, वस्तुतस्तु स्त्री आदिका दर्शन स्त्री आदि अर्थसे रूपित होनेके कारण असत्य होनेपर भी शुक्तिरूप्यका विज्ञान जैसे हर्षादिका जनक है, वैसे स्वप्न-दर्शनके शुभ और अशुभादि सूचकत्व माननेमें कोई बाधा नहीं है, ऐसा भाव है ।

अच्युतग्रन्थमालासे प्रकाशित पुस्तकोंका सूचीपत्र

(क) विभाग

१-भगवन्नामकौमुदी—[भगवन्नामकी महिमाका प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ]
मीमांसाके धुरन्धर विद्वान् श्रीलक्ष्मीधरकी कृति, अनन्तदेवरचित 'प्रकाश'
टीकासहित । सम्पादक—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री ।

पृ० सं० १५०, मू.—आ. १०

२-भक्तिरसायन—[भक्तिस्वरूपका परिचायक अत्युत्तम ग्रन्थ] यतिवर
श्रीमधुसूदन सरस्वतीरचित प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकाररचित शेष दो उल्लासोंमें
आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री रचित टीकासे विभूषित । सं०—आचार्यवर
गोस्वामी दामोदर शास्त्री ।

पृ० सं० १७०, मू.—आ. १२

३-शुल्बसूत्र—[कात्यायनश्रौतसूत्रका परिशिष्ट अंश] वेदाचार्य पं० विद्याधर
गौड़की बनाई हुई सरलवृत्तिसहित । सं०—वेदाचार्य विद्याधर गौड़ ।

पृ० सं० ६०, मू.—आ. ४

४-कात्यायनश्रौतसूत्र—[इसमें दर्शपूर्णमाससे लेकर अश्वमेध, पितृमेधपर्यन्त
कितने ही यज्ञोंकी विधियां साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं] महर्षि कात्यायनप्रणीत,
वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़ द्वारा रचित सुसरल वृत्तिसे अलंकृत । सं०—वेदाचार्य
विद्याधर गौड़ ।

पृ० सं० लगभग १०००, मू.—रु. ६

५-प्रत्यकृतत्वचिन्तामणि—(प्रथम भाग) [शाङ्करभाष्यानुसार वेदान्तका
सुसरल पद्यमय ग्रन्थ] श्रीसदानन्द व्यासविरचित, ग्रन्थकाररचित सरल संस्कृत
टीकासहित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री ।

पृ० सं० ३४०, मू.—रु. २

६-भक्तिरसामृतसिन्धु—[भक्तिरससे परिपूर्ण यह ग्रन्थ सचमुच पीयूषसिन्धु है]
श्रीरूप गोस्वामीप्रणीत, श्रीजीव गोस्वामीप्रणीत दुर्गमसङ्गमनी टीकासहित ।
सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री ।

पृ० सं० ६२५, मू०—रु० ३

७-प्रत्यकृतत्वचिन्तामणि—(द्वितीय भाग) पृ० सं० ४५० मू०—रु. २ आ. ४

८-तिथ्यर्क—[तिथियोंके निर्णय आदिपर अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ] श्रीदिवाकर
विरचित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री ।

पृ० सं० ३४०, मू०—रु० १ आ० ८

९-परमार्थसार—[वेदान्तका अति प्राचीन ग्रन्थ] श्रीपतञ्जलि भगवान्की कृति, प्राचीन टीका तथा टिप्पणीसे विभूषित । सं०—न्यायव्याकरणाचार्य श्रीसूर्यनारायणशुक्ल । पृ० सं० १००, मू.—आ. ६

१०-प्रेमपत्तन—[श्रीकृष्णभक्तिसे सराबोर चैतन्य-सम्प्रदायका अपूर्व ग्रन्थ] भक्तवर रसिकोत्तंसकी कृति तथा अद्भुतप्रणीत टीकासे अलंकृत । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ. सं. २३०, मू.—रु. १

(ख) विभाग

१-खण्डनखण्डखाद्य—कवितार्किकशिरोमणि श्रीहर्षरचित, पंडितवर श्रीचण्डी-प्रसाद शुक्ल विरचित भाषानुवादसे विभूषित ।

पृ० सं० ४३५ (बड़ा आकार) मू.—रु. २ आ. १२

२-काशी-कैदार-माहात्म्य—[ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत] साहित्यरत्न पं० श्री-विजयानन्द त्रिपाठीद्वारा विरचित भाषानुवादसहित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं० २६+६०४, मू.—रु. २ आ. ८

३-सिद्धान्तविन्दु—(वेदान्तका प्रमेयबहुल अपूर्व ग्रन्थ) आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीविरचित, भाषानुवाद तथा टिप्पणीसे विभूषित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं २८०, मू. रु. १ आ. ६

५-प्रकरणपञ्चक—भगवान् शङ्कराचार्यके आत्मबोध, प्रौढानुभूति, तत्त्वोपदेश आदि ५ प्रकरण-ग्रन्थोंका भाषानुवादसहित संग्रह । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं० १३१, मू.—आ. ८

यन्त्रस्थ ग्रन्थ—

१ षट्सन्दर्भ, विविध टीकाओंसे विभूषित ।

मिलनेका पता—

(१) अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी ।

(२) गीताप्रेस, गोरखपुर ।



नोट—अच्युतग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहकोंको उक्त सभी पुस्तकें पौन मूल्यपर दी जाती हैं । 'अच्युत' मासिक पत्रके स्थायी ग्राहक (ख) विभागके स्थायी ग्राहक समझे जायेंगे ।

